बौद्धिक संवाद का अभिप्राय

वैचारिक अस्पृश्यता के पीछे तर्क और ताकत

भारत नीति प्रतिष्ठान

Inside Front Cover

बौद्धिक संवाद का अभिप्राय

वैचारिक अस्पृश्यता के पीछे तर्क और ताकत

Blank

बौद्धिक संवाद का अभिप्राय

वैचारिक अस्पृश्यता के पीछे तर्क और ताकत

संपादक मंडल

प्रो. अवनिजेश अवस्थी

डॉ. बी.एस. हरिशंकर

विनोद शुक्ल

प्रो. ममता त्रिपाठी

सहयोग

संजीव सिन्हा

पंकज आनंद

शिव कुमार सिंह

ipf INDIA POLICY FOUNDATION
॥ प्रदीपयेम जगत् सर्वम् ॥

भारत नीति प्रतिष्ठान

India Policy Foundation

प्रतिष्ठान की नीति के तहत हम इस पुस्तक की विषयवस्तु के संदर्भ सहित पूर्ण या आंशिक प्रयोग को प्रोत्साहित करते हैं।

प्रकाशक :

भारत नीति प्रतिष्ठान

डी–51, हौज खास,
नई दिल्ली–110016 (भारत)
दूरभाष : 011–26524018
फैक्स : 011–46089365
ई–मेल : indiapolicy@gmail.com
वेबसाइट : www.indiapolicyfoundation.org

संस्करण : प्रथम, जनवरी, 2016

© भारत नीति प्रतिष्ठान

ISBN : 978-93-84835-08-8

मूल्य : 80 रुपये मात्र

मुद्रक :

मानसी प्रिंटर्स

पॉकेट बी–35डी, दिलशाद गार्डन,
दिल्ली–110095
ई–मेल : maanseeprinters@yahoo.co.in

अनुक्रम

- **प्रस्तावना** i

  — प्रतिरोध, असहमति व संवाद — *प्रो. राकेश सिन्हा*
- विषय–परिचय vii

1. आवाजाही के हक में — *ओम थानवी* 1
2. वह एक चूक थी — *मंगलेश डबराल* 9
3. यह पलटी क्यों? — *नवनीत* 15
4. मंगलेश! तुम्हारी 'चूक' पर मैं हैरान हूं — *आनंद स्वरूप वर्मा* 17
5. यह छुआछूत उनकी ही देन है — *अवनिजेश अवस्थी* 21
6. न प्रगति न जनवाद, निपट अवसरवाद — *के. विक्रम राव* 24
7. 'कि हम आदमी नहीं हो सके' — *अपूर्व जोशी* 28
8. वैचारिक अस्पृश्यता घातक — *नरेश भारतीय* 31
9. बौद्धिक विमर्श में वैचारिक बहुलता जरूरी — *राकेश सिन्हा* 33
10. भारतीय लेखक विरोध दर्ज करने में अपनाते हैं दोहरा मापदंड : तसलीमा नसरीन 39
11. असहिष्णुता, अस्पृश्यता और धमकी बन गए हैं हथियार 42
12. वामपंथी दलों के लेखक संघ और सांस्कृतिक संगठन 47
13. अपने ही आईने में वामपंथ : लेखन के झरोखे से 48
14. संकीर्ण मानसिकता : एक नजर 51

- **<u>परिशिष्ट–1</u>** 53

  'समकालीन समाज में बुद्धिजीवी' पुस्तिका से कुछ अंश
- **<u>परिशिष्ट–2</u>** 55

  जनसत्ता, मोहल्ला लाइव, जनपथ डॉट कॉम और प्रवक्ता डॉट कॉम में प्रकाशित आलेखों की सूची

Blank

प्रस्तावना

प्रतिरोध, असहमति व संवाद

प्रतिरोध, असहमति एवं संवाद का त्रिकोण लोकतंत्र को गतिशील बनाए रखता है। भारतीय समाज ने तो लोकशाही में अनास्था रखने वालों को भी वैधानिक स्थान दिया है। इसी वैशिष्ट्य के कारण लोकतंत्र का सतत गुणात्मक विस्तार हो रहा है। अलोकतांत्रिक पथ के पथिक भी देर–सबेर इसका हिस्सा बन जाते हैं। मार्क्सवादी–लेनिनवादी विचारधारा के अनेक धाराओं के द्वारा संसदीय जनतंत्र को स्वीकार करना इसका ज्वलंत उदाहरण है। यही सर्वसमावेशी प्रकृति भारतीय लोकतंत्र को फासीवाद, नाजीवाद, माओवादी चीन या स्टालिनवादी सोवियत संघ (पूर्व) से अलग स्वरूप प्रदान करती है। यहां यह बताना भी लाजमी होगा कि भारत में लोकतंत्र औपनिवेशिक काल, स्वतंत्रता संग्राम अथवा संविधान सभा की खोज नहीं है, न ही यह यूरोपीय संसर्ग या संवाद से उधार ली गई है। यह हमारी प्राचीनतम विधा है जो हमें अपनी सभ्यता से विरासत में मिली है। वर्तमान काल में संसदीय जनतंत्र के औपचारिक स्वरूप को इसी सभ्यताई चरित्र ने संबल प्रदान किया है। इसी कारण से अनेक प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, साम्प्रदायिक व्यवधानों, विपत्तियों और विकारों के बावजूद लोकतंत्र की नींव न हिली न ही उसके प्रति अनास्था उपजी। संक्षेप में यह हमारी वैश्विक दृष्टि और जीवन पद्धति दोनों में सनातन रूप से उपस्थित है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री मोहन भागवत का यह कथन इस संदर्भ में अत्यंत ही प्रासंगिक है कि "विविधता भारतीय का स्वभाव है।"

भारतीय परम्परा में असहमति को साधारणतया नकारात्मक भाव से तब तक नहीं देखा जाता है जब तक उसका मकसद लोकतंत्र की आधारशिला को कमजोर करना नहीं होता है। असहमति जब संवाद की सहचरी बनती है तभी उसका परिणाम रचनात्मक होता है। संवादविहीन विरोध का स्वर विध्वंसक साबित होता है, वह कतई फलदायी नहीं होता है। भारतीय बौद्धिक एवं ज्ञान परंपरा में विभिन्न दर्शन पद्धतियों को हम एक साथ आदर एवं श्रद्धा के भाव से स्वीकार करते हैं। चाहे वह पूर्णतः भौतिकवादी चार्वाक दर्शन हो या आचार्य शंकर का अद्वैत वेदान्त। हमारा दर्शन प्रगतिगामी इसीलिए रहा है कि इस गतिमान ब्रह्मांड में हमने विचार को कभी भी स्थिर एवं जड़ नहीं माना है, तथा सदा नवीन विचारों एवं पद्धतियों का खुलेमन से स्वागत किया है। हमारी जीवन पद्धति में विचार के प्रवाह में पूर्णविराम की कल्पना तक नहीं है। इसीलिए इसे उपनिषदों में 'नेति–नेति' द्वारा व्यक्त किया गया है, जिसका अर्थ है– यह भी नहीं, वह भी नहीं। अर्थात् खोज, अनुसंधान एवं विमर्श में कहीं भी कोई विराम नहीं होता है। यहां इस प्रश्न पर भी गौर करने की आवश्यकता है कि विचार चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक या आध्यात्मिक यदि उसको मानने वाले निर्बाध प्रवाह की जगह पूर्णविराम में जीवन मरण की प्रतिबद्धता के साथ विश्वास करते हों तो उन्हें

भारतीय विचार शैली (Idea of India) का संवर्द्धक माने या शत्रु? इस प्रश्न पर जबतक खुलकर चर्चा नहीं होगी तब तक हम अनेक जटिलताओं को सुलझाने की जगह उसमें स्वयं उलझते जाएंगे। भारतीय संविधान की मूल प्रस्तावना इसी परंपरा का प्रतिबिम्ब है। या ऐसा कहें कि संविधान की प्रस्तावना भारतीय मानस एवं भारतीय स्वभाव को प्रतिबिम्बित करती है।

जो आंदोलन, विचारधारा अथवा समाज असहमति को स्थान नहीं देता है और संवाद को जीवंतता का प्रतीक नहीं मानता है उसके 'स्व' का क्षरण अवश्यंभावी होता है। आखिर फासीवाद, नाजीवाद, स्टालिनवाद, माओवाद को कंधा देने वाले चार लोग भी उन्हें उन स्थानों पर क्यों नहीं मिलते, जहां वे परिस्थितियों के घने अंधेरे में नाजायज संतान बनकर उभरे थे?

भारत ने अपने सभ्यताई जीवनकाल में अनेक सामाजिक, राजनीतिक पराभवों को देखा परन्तु उसके उच्च दार्शनिक भाव ने हमेशा उसे उन परिस्थितियों से निकालने का काम किया है। संवाद और असहमति के मंत्र कितने व्यवहारिक रहे हैं इसके दो उदाहरण हमारे लिए प्रेरणादायक और स्फूर्ति प्रदान करने वाले हैं।

पहली घटना 17 नवम्बर, 1869 की है। स्वामी दयानन्द सरस्वती 'मूर्तिपूजा' के विरोधी थे। तर्कों और विमर्शों के लम्बे सिलसिले के बाद बनारस में उनकी 300 मूर्तिपूजक विद्वानों के साथ बहस हुई। हजारों लोग इस दार्शनिक विमर्श को सुनने के लिए एकत्र हुए। इसमें तर्क एवं तथ्य के धरातल परं कौन जीता, कौन हारा यह प्रश्न गौण हो गया परंतु इस प्रक्रिया के दौरान समाज अपनी आस्था एवं अपने भीतर से उठ रहे प्रश्न को, सहिष्णुता व शांति से पचाने की क्षमता का ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत कर गया।

दूसरा उदाहरण विधवा विवाह के प्रश्न पर हुए विमर्श और अभियान का है। अठारहवीं शताब्दी में हमारी सामाजिक अवस्था यथास्थितिवाद की ओर झुकी हुई थी। उस समय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह के समर्थन में अभियान चलाया। अनेक बहसों, सभाओं, एवं तर्क–वितर्कों के बाद उन्हें इसके समर्थन में औपनिवेशिक प्रशासन को दिए जाने वाले ज्ञापन के लिए मात्र 987 लोगों के हस्ताक्षर मिले। उनके इस अभियान के प्रतिकार में राधाकांत देव खड़े हो गए जिन्हें 36,763 हस्ताक्षर प्राप्त हुए। परन्तु अंततः हिन्दू समाज ने 987 हस्ताक्षर वाले अल्पसंख्यक मत के पीछे चलना स्वीकार किया। लोकतंत्र प्रतिक्रियावाद, यथास्थितिवाद और अमर्यादित बहुमत का एक स्वाभाविक उपचार भी है।

औपनिवेशिक काल में तर्क, विमर्श और रचनात्मक असहमति ने साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन में अनेक वैचारिक–उपवैचारिक धाराओं को जन्म दिया। साहित्यकारों एवं पत्रकारों ने अपने दम पर साम्राज्यवाद को चुनौती दी। देशभर में सैकड़ों छोटे–बड़े समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। ये सम्पादक बिना किसी भय के बर्बर ताकत को ललकारते थे और साम्राज्यवादी शक्तियों से लोहा लेते थे। इसे समझने के लिए यह उदाहरण पर्याप्त है। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले 'स्वराज्य' समाचारपत्र के सम्पादक के लिए जो विज्ञापन छपा, उसमें जो सेवा शर्त बताई गई थी वह अद्वितीय है, "चाहिए स्वराज्य के लिए संपादक। वेतन–दो सूखी रोटियां, एक गिलास ठंढा पानी और हर संपादकीय के लिए दस साल जेल।" इस सेवा शर्त ने भी इस अखबार का संपादक बनने के लिए सैकड़ों लोगों की पंक्ति खड़ी कर दी।

स्वतंत्रता के पश्चात इस बौद्धिक लोकतंत्र का पराभव हुआ। इसका कारण सत्ता और बौद्धिकता के बीच घोषित एवं अघोषित रूप से बढ़ती समझ, साझेदारी और अन्तर्निर्भरता रहा है। औपनिवेशिक काल में वामपंथी बौद्धिक जमात प्रभावशाली तरीके से उभरी। इसे सत्तावादी प्रश्रय की जरूरत थी। अपनी बौद्धिकता का उपयोग व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने में इसे कोई रुचि नहीं रह गई थी। स्वभावतः यह सुविधाभोगी वाम बौद्धिकता थी। इसने अपने आपको वैधानिकता प्रदान करनेवाले तंत्र (Legitimiser) की भूमिका में विकसित किया। ऐसा करने में वैचारिक धरातल और अनुशासन दोनों को लचीला बनाया जिससे इसकी वजूद को आसानी से चुनौती नहीं दी जा सके।

उधर पंडित जवाहरलाल नेहरू को कांग्रेस में अपने समकालीनों के बीच से उभरकर ताकतवर होने का अहसास करने और कराने की मनोवैज्ञानिक चुनौती थी। ऐसा प्रायः जनांदोलनों या सामाजिक आंदोलनों के बाद हासिल सत्ता समीकरण में स्वाभाविक स्थिति बनती ही है। समान रूप से जमीनी कार्य करने वालों को सत्ता की संरचना पद सोपानों में राजा से रंक के खांचो में बांट देती है। ऐसी स्थिति में संबंधों का आयाम (Dynamics) निरंकुश होने में प्रत्यक्ष रूप से नैतिक बाधा उत्पन्न करती है। पंडित नेहरू को पूरे जीवन भर इस बाधा से लड़ना पड़ा। वे प्रधानमंत्री तो थे, लोकप्रिय भी थे, उनमें चिंतन भी था परन्तु वे अपने सांचे में सबको ढालना भी चाहते थे। वे सूक्ष्म सत्ता के आधार पर अपना नैतिक वर्चस्व स्थापित करने की जगह स्थूल सत्ता के द्वारा नग्न आधिपत्य स्थापित करने में जीवन पर्यन्त लगे रहे। इसका खामियाजा कांग्रेस, देश व लोकतंत्र तीनों को भुगतना पड़ा। उन्होंने मत भिन्नता रखनेवाले समकालीनों के प्रति घोर असहिष्णुता दिखाई। इसका उदाहरण पुरुषोत्तम दास टंडन, सरदार बल्लभ भाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जैसे वरिष्ठ लोग हैं। टंडन 1950 में विधिवत कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। नेहरू द्वारा उन्हें पराजित करने की सभी कोशिशें नाकाम रही। परन्तु टंडन को विजय हासिल होने के बाद भी नेहरू की जिद्द के सामने झुकना पड़ा। अंततः उन्हें अध्यक्ष पद से इस्तीफा देना पड़ा। यह लोकतंत्र का श्रृंगार है या चीरहरण यह प्रश्न विचारणीय है। इस तरह की अनगिनत छोटी–बड़ी घटनाएं हैं।

कांग्रेस में धीरे–धीरे आंतरिक लोकतंत्र लुप्त होता गया और व्यक्तिवाद प्रभावी होता चला गया। नेहरू ने इस व्यक्तिवाद को परिवारवाद में बदल दिया। इसी क्रम में नेहरू को विचारकों, लेखकों, कलाकारों, इतिहासकारों के फौज की जरूरत थी जो राजनीति के नए पर्यावरण को वैधानिकता दे सके। नेहरूवादी राजसत्ता और वाममार्गी बौद्धिक सत्ता के बीच अवसरवादी संबंध बना। इसने देश में विचारों को नेहरूवाद–मार्क्सवाद के पिंजरे में बंदी बना दिया। इस दायरे को चुनौती देना, वैकल्पिक बातें करना, असहमति प्रकट करना नाजायज बना दिया गया। तभी तो कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी का भारतीय विद्या भवन सत्तावादी बौद्धिक प्रतिष्ठान के दमन का शिकार हो गया। वाम–नेहरूवादी बौद्धिकता में नवउदारवाद से लेकर वर्ग संघर्ष के पैरोकार शामिल हैं। इसी प्रश्रयवाद ने देश में आत्मसम्मान से युक्त स्वतंत्र, स्वायत्त और संघर्षशील बौद्धिकता चाहे वह जिस वैचारिक कुनबे की रही हो उसे संस्थागत संरचनाओं के शीर्ष तक नहीं पहुंचने दिया। विद्वता और योग्यता का समझौतावाद और विभिन्न प्रकार का समीकरणवाद आवश्यक बुराई की तरह बौद्धिक प्रक्रिया और संरचना का अंग बन गया। इस गठबंधन में एक और आयाम रहा है वह है अमेरिकी–यूरोपीय बौद्धिक वर्ग। यूरोप–अमेरिका के बुद्धिजीवी तथा उनके

द्वारा संचालित संस्थाएं भारतीय परिस्थितियों को गहराई से प्रभावित करते रहे हैं। पराधीन, पराश्रित और परावलंबी बनाने के अनेक हथकंडों का सहारा वे लेते रहे हैं। यहां तक कि पैसा, प्रतिष्ठा और बौद्धिक होने की स्वीकृति का यूरोपीय–अमेरिकी संस्थाएं जरिया बन गईं।

इस प्रकार की स्थिति में भारतीय ज्ञान परंपरा की बात करना और भारतीय मन, मेधा, मस्तिष्क के अनौपनिवेशिकरण (Decolonisation) का उपक्रम स्थायी रूप से स्थगित संकल्प बनकर रह गया। इसका कोई भी प्रयास अंकुरित होने से पूर्व ही कुचल दिया जाता रहा है। ऐसा नहीं है कि प्रयास करने वाले संकल्पयुक्त समाजशास्त्रियों और साहित्यकारों की अल्पता रही है परन्तु जो कुलीन गठबंधन हावी था उसने उन्हें उभरने नहीं दिया। विचारों के अनौपनिवेशीकरण की बात नारेबाजी, सेमिनार और प्रायोजित लेखन की वस्तु बनकर रह गई। भारतीय राष्ट्र को इससे अप्रतिम क्षति पहुंची है जिसे वैचारिक भिन्नता रखनेवाले सभी समूहों के ईमानदार साहित्यकार एवं समाजशास्त्री अपने–अपने ढंग से महसूस करते हैं। यह तो एक ऐसी सामूहिक क्षति है जिसे विचारधारा के आईने में नहीं देखा जाना चाहिए। भारतवर्ष ने बहुमूल्य छह दशक खो दिया जिसकी जिम्मेदारी हम सब की है। प्रतिकूल परिस्थितियों में महर्षि अरविन्द, स्वामी विवेकानंद, बिपिन चन्द्र पाल ने जो काम किया वे काम विरासत बनकर रह गई। हममे से कुछ उसे उद्धृत कर काम चलाते रहे तो कुछ उसे हेय मानकर उपेक्षा करते रहे। परंपरा पर स्थायी रूप से अर्द्धविराम लगा रहा।

इस क्षति के पीछे क्या कारण और कारक रहा है इसे भी समझना होगा। सत्ता, यूरोपनिष्ठ विचार और वाम मार्ग के इस गठबंधन को सशक्त रखने के लिए वैचारिक अस्पृश्यता को उपकरण (Tool) के रूप में प्रयोग किया गया। इसका एक उदाहरण सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के हिमायतियों के साथ व्यवहार है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर्वसमावेशी राष्ट्रवाद को धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के शत्रु के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह उपक्रम स्वतंत्रता के तुरंत बाद शुरू हुआ। संघ विमर्श का सीधा अर्थ इसे खारिज करने वाला कटु आलोचना बनकर रह गया है। इस रणनीति से विमर्श को कितनी क्षति हुई वह अलग बात है परन्तु इसने संघ–विरोधी विचारधारा को उससे अधिक क्षति पहुंचाने का काम किया है। संघ–विरोधवाद (Anti-RSSism) एक कार्यक्रम से विचारधारा में रूढ़ हो गया। वाम बौद्धिकता चतुराई के साथ वामपंथी पार्टियों की प्राथमिकता को 'सर्वहारा' से 'साम्प्रदायिकता' में बदलने में सफल रही। यह कांग्रेस के हक में सबसे बड़ी रणनीतिक सफलता साबित हुई। जब–जब साम्प्रदायिकता के छद्म सवाल को छोड़कर गैर कांग्रेसी राजनीति खड़ी हुई तब–तब इसने देश में बड़े परिवर्तन को जन्म दिया। चाहे वह 1967 का गैर कांग्रेसवाद हो या 1974 का जे.पी. आन्दोलन और तत्पश्चात 1977 में आजादी की दूसरी लड़ाई या 1989 में भ्रष्टाचार के खिलाफ राजनीतिक आंदोलन। कांग्रेस तो सिमटती गई परन्तु उसका समर्थक बौद्धिक वर्ग वैकल्पिक राजनीति और विचारधारा के प्रति असहिष्णु बना रहा। जब प्रतिभा या विचार बुनियादी आलोचनाओं और चुनौतियों से स्वयं को ऊपर समझने लगता है या बचने लगता है तो वह विकलांग हो जाता है। जब कभी उसे यथार्थ से मुकाबला करना पड़ता है तो वह अपने खोखलेपन से साक्षात्कार करना शुरू करता है। फिर वह तर्क की ताकत की जगह ताकत के तर्क का छतरी ओढ़ लेता है।

इस जमात ने अपनी वाम पहचान और प्रतिभा का उपयोग 'स्व' के लिए करने का कौशल ढूंढ़ निकाला। जिसका खामियाजा स्वयं वामपंथी आंदोलन को भी भुगतना पड़ा। प्रश्रय, पैसा, प्रोत्साहन और प्रचार के द्वारा ये नाम इतने बड़े हो गए कि अब वाम आंदोलन उनके लिए प्रगतिशील कहलाने के लिए छतरी मात्र बनकर रह गया। व्यवस्था से तालमेल बैठाना, निजी या सामूहिक लाभ के लिए व्यवस्था के पक्ष या विपक्ष में तर्क गढ़ना और रंगमंच को ढालना इनका कौशल हो गया। सुविधाभोगी वाम रचनाकारों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों का ऐसा कुलीन वर्ग विकसित हो गया जो कम्युनिस्ट पार्टियों को अपनी रणनीति बदलने के लिए बाध्य करता रहा। पार्टियों को इसका आभास होना शुरू हुआ परन्तु वे अपने बीच ऐसे सिद्धांतकार नहीं गढ़ पाईं जो इन पर अंकुश लगा सके, न ही इन्हें पूरी तरह से वे अलग–थलग कर पाईं। इस प्रकार गैर दलीय वाम उदार (Left Liberal) जमात का तेजी से अभ्युदय हुआ। इसमें अनेक ऐसे लोग भी आ गए जिनका मार्क्सवाद से दूर–दूर तक रिश्ता नहीं है। इसके विपरीत वे मार्क्सवाद के आलोचक रहे। परन्तु जमात की ताकत के कारण वे इसी वैचारिक गोत्र से जोड़कर अपने आपको पेश करते रहे। बिना किसी बंधन, मर्यादा या उत्तरदायित्व के वे सम्मान, पद, सोपान और संसाधन का संवर्द्धन करते रहे। वामपंथी कैडर उनका दास बन गया। उन्हें वामपंथी पार्टियों के सिकुड़ने, भाकपा का साइनबोर्ड पार्टी बन जाने, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का किला ढहने की तनिक भी पीड़ा नहीं है। उनका सुख, सुविधा, सम्मान वामपंथी पार्टियों की ताकत पर कतई निर्भर नहीं रहा।

साठ के दशक से ही इन बुद्धिजीवियों ने एक सुलभ राजनीतिक विचार का अन्वेषण कर अपने राजनीतिक जमीन और वैचारिक गठबंधन को दुरुस्त किया। यह है 'आर.एस.एस. विरोधवाद'। वे संघ विरोधी किसी भी राजनीतिक गठबंधन के स्वाभाविक मित्र और पैरोकार बन जाते हैं। इस संघ विरोधवाद की अवधारणा और कार्यक्रमों के अन्वेषण का श्रेय पूर्व सांसद सुभद्रा जोशी को जाता है। वह भी कुलीन कम्युनिस्ट थीं। उन्होंने 'साम्प्रदायिकता विरोधी कमेटी' बनाई। जिसे नेहरू और इंदिरा गांधी दोनों सरकारों का सक्रिय समर्थन प्राप्त था। इस कमेटी का एक ही उपक्रम था संघ विरोधी माहौल बनाए रखना। जब–जब संघ के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समर्थन के कारण प्रदेशों या केन्द्र में सरकार बदलती थी यह मंच अतिसक्रिय हो जाता था। इसके दो उदाहरण हैं। पहला, सन् 1967 में देश के आठ राज्यों में गैर–कांग्रेसी सरकार बनी। यह गैर–कांग्रेसवाद का उभरना कांग्रेस के लिए खतरे की घंटी थी। उस समय के समाचारपत्रों में संघ को सामने रखकर विमर्श शुरू हुआ। इस विमर्श में गैर–तथ्यात्मक एवं अतार्किक बौद्धिकता साफ दिखाई पड़ रही थी। तभी साम्प्रदायिकता विरोधी कमेटी ने अपना पहला सम्मेलन सन् 1968 में नई दिल्ली में आयोजित किया। इसमें समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण मुख्य अतिथि थे। वे दो दिनों के सम्मेलन को देखकर स्वयं हतप्रभ हो गए और उन्हें कहना पड़ा कि "सम्मेलन की Proceedings को देखकर यह धारणा बनती है कि इसे आर.एस.एस. का विरोध करने के लिए बुलाया गया है न कि साम्प्रदायिकता पर विचार करने के लिए।" अंततः संविद सरकारें गिरा दी गईं। फिर यह कमेटी कुंभकरण की तरह सुषुप्तावस्था में चली गई। सन् 1977 में केन्द्र में जब संघ के समर्थन से सरकार बनी तब साम्प्रदायिकता विरोधी कमेटी कुम्भकर्णी निद्रा से बाहर निकली। सन् 1978 के मार्च में दूसरा साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलन हुआ। एक बार फिर आर.एस.एस. पर हमला किया गया। दोनों सम्मेलनों के बीच मात्र ग्यारह

सालों का अंतर था। इसमें भी संघ विरोधी प्रलाप और प्रपंच होता रहा। इसका भी अनपेक्षित कोने से विरोध हुआ। सब सकते में रह गए। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के जहूर सिद्दीकी उठ खड़े हुए और उन्होंने संघ विरोधी भाषणों का प्रतिकार करते हुए कहा कि "देश में आपातकाल आरएसएस ने नहीं थोपा था। तुर्कमान गेट, पिपली और मुजफ्फरनगर में गोलवलकर नहीं थे।"

नब्बे के दशक में सफदर हाशमी की हत्या के बाद उनके नाम पर सफदर हाशमी मेमोरियल ट्रस्ट (सहमत) उभरा। एक अर्थ में यह 'साम्प्रदायिकता विरोधी कमेटी' का नया संस्करण है। पहले कम्युनिस्ट पार्टियों ने इस मंच से दूरी दिखाई परन्तु सत्तापोषित वाम बुद्धिजीवियों ने दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों (सी.पी.आई. और सी.पी.एम.) को इसे लाल सलाम करने के लिए बाध्य कर दिया। सी.पी.आई. (एम.एल.) जरूर इसे कॉर्पोरेट एवं राज्य समर्थित बुर्जुआ और प्रतिक्रियावादी संस्था समझती है। इसका एक ही उद्देश्य है भारत की प्राचीनता, बौद्धिक और सांस्कृतिक विरासत पर सवाल खड़ा करना और कांग्रेस के प्रति वैचारिक माहौल तैयार करना। आज जो लोग असहिष्णुता का जाप कर रहे हैं उनमें से अधिकांश 'सहमत' के बौद्धिक सिपाही हैं।

यह वही वर्ग है जो वैचारिक विविधता की चौहद्दी तय करता रहा है। उससे बाहर के लोग स्टालिनवादी दमन के शिकार होते रहे हैं। एक समय वाम विचारधारा के मुख्यधारा में रहे साहित्यकार राम विलास शर्मा एवं त्रिलोचन जैसे लोग भी लाल दमन से नहीं बच पाए। तात्कालिक लाभ हानि से ऊपर उठकर अनौपनिवेशीकरण को समाजशास्त्र, साहित्य और वैश्विक दृष्टि में आंदोलन के रूप में प्रखरता के साथ चलाने की जरूरत है। इस प्रतिबद्धता में अनेक रुकावटें आएंगी और अनेक प्रकार का संघर्ष, आरोप–प्रत्यारोप अवश्यंभावी है। परन्तु उन्हें पार करना ही भारत को भारत बनाने का संकल्प माना जाएगा।

– प्रो॰ राकेश सिन्हा

20 जनवरी, 2016

विषय-परिचय

संवाद समन्वय और विकास का सहज और स्वाभाविक माध्यम है। विचारों की स्थापना और प्रासंगिकता का मार्ग भी संवाद ही है। विभिन्न विचारों, विचारकों एवं विचारधाराओं के मध्य संवाद से ही देश की दिशा तय होती है। संवाद भारतीय विचार–सत्ता का केन्द्रबिन्दु रहा है। जिसमें अपने धुर–विरोधी को भी परस्पर विमर्श के लिए आमन्त्रित किया गया है और अपने से पहले स्थान प्रदान किया गया है। वैचारिक साम्य–वैषम्य, मैत्री–विरोध को परे रखते हुए सभी का समादर करते हुए सबको सम्मानित स्थान प्रदान किया गया है। विगत कई दशकों से भारत में संवाद की यह प्रक्रिया शिथिल होती हुई दिख रही है। संवाद का स्थान गुटों, दलों, वर्गों और समूहों के आंतरिक वार्तालाप तक ही सीमित रह गया है जहां किसी विरोधी विचार को अपने ही विचार के दूसरे पहलू तक को अपनी बात रखने की स्वतंत्रता नहीं है। विचार पनप तो रहे हैं, बढ़ भी रहे हैं पर एक विशेष प्रकार की घेरेबंदी के अन्दर, जहां कोई पूर्वपक्ष नहीं है, कोई विरोधी नहीं है और न ही किसी की विरोध करने की हिम्मत। आज इस तरह एक घेरे में बंद होकर रह गया है संवाद, जहां संवाद के मायने ही बदल गए हैं। स्वस्थ व स्वच्छ बहस दुर्लभ सी होती जा रही है।

इसी संवाद की प्रक्रिया को पुनर्जीवित करने के लिए भारत नीति प्रतिष्ठान ने संवाद की पहल की। जो कि वर्तमान परिस्थिति व संकुचन की स्थिति को देखते हुए बेहद जोखिम भरा कार्य था। इस संवाद की पहल के सकारात्मक परिणाम भी आए। विभिन्न विचारधाराओं के प्रतिनिधि, विद्वान, साहित्यकार एक मंच पर साथ–साथ आए, अपनी–अपनी बात रखी और दूसरों की सुनी भी। इस दौरान भारत नीति प्रतिष्ठान के मंच पर विभिन्न वैचारिकी से जुड़े अनेक लोग आए। इससे संवाद का दायरा पुनः संकुचन से विस्तार की ओर बढ़ने लगा। इस पहल का सकारात्मक संदेश जाना शुरू हुआ। साथ ही ऐसे लोगों और समूहों पर जिन्होंने संवाद का दम घोंटने का काम किया था, संकट के बादल भी छाने लगे। उन्हें असुरक्षा का अनुभव होंने लगा और लगने लगा कि उनकी घेरेबंदी टूट जाएगी। इसी क्रम में भारतीय सिनेमा के शताब्दी वर्ष के अवसर पर प्रतिष्ठान द्वारा आयोजित कार्यक्रम में एक शोधार्थी द्वारा समानान्तर सिनेमा के सामाजिक प्रभाव विषय पर शोधपत्र प्रस्तुत किया जाना था। जिसमें जन संस्कृति मंच से जुड़े कवि एवं साहित्यकार मंगलेश डबराल मुख्य अतिथि थे। संवाद–विरोधी खेमे में भारत नीति प्रतिष्ठान द्वारा संवाद की पहल देखकर पहले से ही उबाल था। मंगलेश डबराल के प्रकरण में उन्हें उबलने का अवसर मिल गया और यह समाचार सोशल मीडिया पर प्रसारित होते ही सब के सब लामबन्द होकर मंगलेश डबराल

प्रतिष्ठान के मंच पर संवाद को गति देने आए विभिन्न वैचारिकी के लोग :–

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सरकार्यवाह श्री दत्तात्रेय होसबले, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह सरकार्यवाह डॉ. कृष्ण गोपाल, भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री राजनाथ सिंह, पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ. मुरली मनोहर जोशी, पूर्व केन्द्रीय मंत्री डॉ. सुब्रमण्यम् स्वामी, पूर्व केन्द्रीय मंत्री श्री जगमोहन, कर्नाटक के पूर्व राज्यपाल श्री टी.एन. चतुर्वेदी, राज्यसभा के पूर्व उपसभापति डॉ. नजमा हेप्तुल्लाह, लोकसभा के पूर्व उपाध्यक्ष श्री करिया मुंडा, गांधीवादी विचारक डॉ. रामजी सिंह, पूर्व केन्द्रीय मंत्री श्री आरिफ मोहम्मद खान, राज्यसभा के पूर्व सदस्य डॉ. लोकेश चन्द्रा, रामभाऊ म्हालगी प्रबोधिनी के निदेशक डॉ. विनय सहस्रबुद्धे, भारतीय मजदूर संघ के राष्ट्रीय महासचिव श्री वृजेश उपाध्याय, भारतीय किसान संघ के सचिव श्री मोहिनी मोहन मिश्रा, भारतीय मजदूर संघ के सह सचिव श्री बी. सुरेन्द्रन, सेंटर फॉर पॉलिसी स्ट्डीज के निदेशक डॉ. जितेन्द्र कुमार बजाज, राजा राम मोहन रॉय लाइब्रेरी, कोलकाता के निदेशक श्री बृजकिशोर शर्मा, मौलाना अबुल कलाम आजाद संस्थान के पूर्व निदेशक प्रो. जयंत कुमार रॉय, पूर्व आई.ए.एस. अधिकारी श्रीमती आशा दास, भारत सरकार के पूर्व सचिव श्री आर. वेंकट नारायणन, पूर्व कैबिनेट सचिव श्री टी.एस.आर. सुब्रमण्यम्, कैबिनेट सचिवालय के पूर्व विशेष सचिव श्री राणा बनर्जी, सीबीआई के पूर्व निदेशक श्री जोगिंदर सिंह, पंजाब और असम के पूर्व पुलिस महानिदेशक श्री के.पी. एस. गिल, उत्तर प्रदेश और असम के पूर्व पुलिस महानिदेशक श्री प्रकाश सिंह, पूर्व राजनयिक श्री जी. पार्थसारथी, पूर्व राजनयिक श्री राजीव डोगरा, द ब्रदरहुड इन सैफ्रन के सह–लेखक श्री श्रीधर दामले, भारतीय मूल के ब्रिटिश शिक्षाविद् और लेखक डॉ. गौतम सेन, घेंट विश्वविद्यालय, बेल्जियम के प्रोफेसर प्रो. एस.एन. बालगंगाधर, भारत में सीरिया के राजदूत डॉ. रियाद कामिल अब्बास, वरिष्ठ सीरियाई पत्रकार डॉ. वायल अव्वाद, वरिष्ठ फ्रांसीसी पत्रकार ऐनी इसाबेल टोलेट, भारत में इजरायली दूतावास के याहेल विलान, पाकिस्तानी मूल के कनाडाई लेखक श्री तारिक फतह, फोरम ऑफ फेडरेशन्स (कनाडा) के अध्यक्ष डॉ. रूपक चटोपाध्याय, आर.टी.आई. एक्टिविस्ट श्री अरविन्द केजरीवाल, योजना आयोग के पूर्व सदस्य श्री नरेन्द्र जाधव, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर अमिताभ कुंडू, जेएनयू के पूर्व प्रोफेसर आनंद कुमार, जेएनयू के प्रोफेसर विवेक कुमार, जेएनयू के प्रोफेसर बिमोल अकोईजम, जेएनयू के पूर्व प्रोफेसर पुष्पेश पंत, जेएनयू के प्रोफेसर गिरिजेश पंत, दिल्ली स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स, वाणिज्य विभाग के अध्यक्ष प्रो. जे. पी. शर्मा, दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो. सुब्रता

मुखर्जी, कट्स इंटरनेशनल के सेक्रेटरी जनरल श्री प्रदीप सिंह मेहता, इंद्रप्रस्थ विश्वविद्यालय की प्रोफेसर अपराजिता कश्यप, वरिष्ठ वकील श्रीमती मोनिका अरोड़ा, आई.आई.पी.ए. के प्रोफेसर प्रणब बनर्जी, आई.आई.पी.ए. के प्रोफेसर जयतिलक गुहा रॉय, आई.आई.पी.ए. की प्रोफेसर सी. शीला रेड्डी, दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रोफेसर रिमोन भुयान गोगोई, वरिष्ठ पत्रकार स्व. राजिन्द्र पुरी, वरिष्ठ पत्रकार श्री रामबहादुर राय, वरिष्ठ पत्रकार श्री अच्युतानंद मिश्र, वरिष्ठ पत्रकार श्री प्रभु चावला, वरिष्ठ पत्रकार श्री स्वप्नदास गुप्ता, वरिष्ठ पत्रकार श्री बलदेव भाई शर्मा, वरिष्ठ पत्रकार श्री आर. बालाशंकर, ऑर्गेनाइजर के संपादक श्री प्रफुल्ल केतकर, वरिष्ठ पत्रकार श्री आलोक मेहता, द हिन्दुस्तान टाइम्स (फॉरेन डेस्क) के संपादक श्री परमित पाल चौधरी, आउटलुक (हिन्दी) के संपादक श्री नीलाभ मिश्र, आजतक के कार्यकारी संपादक श्री पुण्य प्रसून बाजपेयी, आई.बी.एन.7 के प्रबंध संपादक श्री आशुतोष, वरिष्ठ पत्रकार श्री रामशरण जोशी, सी.एस.डी.एस. के संपादक श्री अभय कुमार दुबे, वरिष्ठ पत्रकार श्री परंजॉय गुहा ठाकुरता, वरिष्ठ पत्रकार श्री एन.के. सिंह, लोकसभा टी.वी. के श्री ज्ञानेन्द्र पांडे, जनसंस्कृति मंच के पदाधिकारी श्री मंगलेश डबराल, शहीद इंस्पेक्टर मोहन चंद शर्मा की पत्नी श्रीमती माया शर्मा, रक्षा विशेषज्ञ मे.ज. (रि.) डॉ. जी.डी. बख्शी, रक्षा विशेषज्ञ श्री सुशांत सरीन, वरिष्ठ पत्रकार श्री कमर आगा, साप्ताहिक नई दुनिया (उर्दू) के संपादक श्री शाहिद सिद्दीकी, टाइम्स नाउ के सामरिक मामलों के सलाहकार संपादक श्री मारूफ रज़ा, रोजनामा राष्ट्रीय सहारा (उर्दू) के समूह संपादक सैयद फैज़ल अली, इंकलाब (उर्दू) के मोहम्मद जमशेद हसन, यू.एन.आई. (उर्दू) के पूर्व संपादक मंजूर शेख, साप्ताहिक चौथी दुनिया (उर्दू) की संपादक डॉ. वसीम राशिद आदि।

प्रतिष्ठान के मंच पर आने वाले सम्मानित अतिथियों का तत्कालीन पद (Designation) के अनुसार उल्लेख किया गया है।

पर टूट पड़े, मानों उन्होंने कोई बहुत बड़ा अपराध कर दिया हो। वाम बुद्धिजीवियों के मध्य कलह मच गई और डबराल पर आरोपों–प्रत्यारोपों की बमबारी होने लगी। सोशल मीडिया पर कारण बताओ नोटिस जारी की गई कि मंगलेश डबराल भारत नीति प्रतिष्ठान क्यों गए?

इस बहस में साहित्यकार उदय प्रकाश सबसे आक्रामक तेवर में नजर आए, जिसका कारण उन पर वामपंथियों द्वारा पूर्व में किया गया हमला है। जिसमें लगभग 66 बुद्धिजीवियों ने एक पर्चा लिखकर हस्ताक्षर करके उदय प्रकाश द्वारा योगी आदित्यनाथ के हाथों पुरस्कार ग्रहण किए जाने का विरोध किया

था और उन पर गम्भीर आरोप लगाए थे। इस विरोध में मंगलेश डबराल भी शामिल थे। जिन्होंने उदय प्रकाश पर हमला बोला था अब उन पर हमले की बारी थी, ऐसे में उदय भला कैसे चूकते?

इन सब परिस्थितियों और वामपंथियों के बीच छिड़ी तू–तू, मैं–मैं को देखते हुए जनसत्ता ने अपने सामान्य स्तम्भ को स्थगित कर चार रविवारीय अंकों में इस वैचारिक असहिष्णुता पर बहस चलाई, जिसमें लगभग 15 बुद्धिजीवियों के विचार प्रकाशित हुए, जिनमें जनसत्ता के तत्कालीन संपादक ओम थानवी, मंगलेश डबराल, तेजेन्द्र शर्मा, चंचल चौहान, सोहन सिंह भदौरिया, अर्चना वर्मा, के. विक्रम राव, पंकज रामेन्दु, मनमोहन शर्मा, प्रो. अवनिजेश अवस्थी, डॉ. आदर्श, अशोक गुप्ता, प्रेम जन्मेजय आदि प्रमुख हैं। इसके अलावा मोहल्ला लाइव में 2, जानकीपुल में 1, जनपथ डॉट कॉम में 2 और प्रवक्ता डॉट कॉम में 9 आलेख प्रकाशित हुए।

जनसत्ता के तत्कालीन संपादक ओम थानवी ने बहस की शुरुआत करते हुए लिखा कि "इंटरनेट बतरस का एक लोकप्रिय माध्यम बन गया है। घर–परिवार से लेकर दुनिया–जहान के मसलों पर लोग सूचनाओं, जानकारियों, विचारों का आदान–प्रदान करते हैं और प्रतिक्रिया देते हैं। ब्लॉग, पोर्टल या वेब–पत्रिकाएं और सार्वजनिक संवाद के 'सोशल' ठिकाने यानी फेसबुक–ट्वीटर आदि की खिड़कियां आज घर–घर में खुलती हैं।.....उदाहरण के लिए हाल में इंटरनेट पर विकट चर्चा में रहे दो कवियों का मसला लें। विष्णु खरे और मंगलेश डबराल को लेकर कुछ लोगों ने रोष प्रकट किया। उन्हीं की विचारधारा वाले 'सहोदर' उन पर पिल पड़े।"

जनसत्ता की बहस और इंटरनेट पर लगातार हो रहे प्रहार के कारण मंगलेश डबराल दबाव में आ गए और उन्होंने प्रतिष्ठान के कार्यक्रम में अपने जाने को 'एक चूक' बताया और उन्होंने जनसत्ता में लिखा कि "पिछले कुछ दिनों से कुछ फेसबुक ठिकानों पर यह सवाल पूछा जा रहा है कि मैं 'भारत नीति प्रतिष्ठान' नामक एक ऐसी संस्था में समांतर सिनेमा पर वक्तव्य देने के लिए क्यों गया जिसके मानद निदेशक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समर्थक राकेश सिन्हा हैं? मैं स्वीकार करता हूं कि यह एक चूक थी, जो मुझसे असावधानी में हो गई। समांतर सिनेमा की एक शोधार्थी पूजा खिल्लन को मैंने कभी इस विषय में कुछ सुझाव दिए थे और एक दिन उन्होंने फोन पर मुझसे कहा कि एक कार्यक्रम में उनके पेपर–पाठ के दौरान मैं कुछ बोलने के लिए आऊं। दफ्तर में काम की व्यस्तता के बीच मैंने इंटरनेट पर इस संस्था के बारे में कुछ सूचनाएं देखीं कि यह एक दक्षिणपंथी संस्था है, लेकिन उसमें रामशरण जोशी, अभयकुमार दुबे, कमर आगा, ज्ञानेंद्र पांडे, नीलाभ मिश्र, अरविंद केजरीवाल आदि कई लोग वक्ता के रूप में शामिल हुए हैं। इससे यह भ्रम हुआ कि दक्षिणपंथी और हिंदुत्ववादी विचारधारा की ओर झुकाव के बावजूद यह पेशेवर संस्थान है। मुझे यह भी सूचित किया गया था कि संस्थान की भूमिका सिर्फ जगह उपलब्ध कराने तक सीमित है। कुल मिला कर मैं इस पर ज्यादा गंभीरता से विचार नहीं कर पाया।"

यद्यपि मंगलेश डबराल ने प्रतिष्ठान आने के अपने कदम को एक चूक बताकर इस बात के कारण वामपंथियों द्वारा उनपर लगातार हो रहे प्रहार से अपना बचाव करना चाहा, तथापि बहस इसे सिर्फ 'चूक'

मान लेने मात्र पर थमी नहीं। थमती भी क्यों भला? मंगलेश जब भारत नीति प्रतिष्ठान के संवाद में हिस्सा लेने आए तो उनसे प्रतिष्ठान ने कोई भी तथ्य नहीं छुपाया। प्रतिष्ठान का अधिष्ठान क्या है यह बात उन्हें स्पष्ट थी, जैसा कि उन्होंने अपने लेख में कहा भी। आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना होने पर भी डबराल को अपना निर्णय 'चूक' लगा।

डबराल की इस 'चूक' पर एक छात्र ने, जो कि उस कार्यक्रम में मौजूद था, सवाल खड़ा किया कि "यह पलटी क्यों?" और उसने पूरे कार्यक्रम का एक आँखो देखा हाल प्रस्तुत किया, जिसमें डबराल कहीं भी आशंकित व सशंकित नहीं दिखे अपितु बहुत आश्वस्त तथा प्रसन्न दिखे। यही नहीं उन्होंने प्रतिष्ठान के कार्यों एवं प्रकाशनों का अवलोकन भी किया तथा उनकी प्रशंसा भी की।

बहस के इसी क्रम में वामपंथी लेखक–पत्रकार आनन्द स्वरूप वर्मा ने डबराल को अपने पत्र जो जनसत्ता में प्रकाशित हुआ, में लिखा कि तुमने गोष्ठी में कोई आपत्तिजनक बात नहीं कही। सारा मुद्दा एक दक्षिणपंथी संस्था में जाने पर केन्द्रित था। "मैं नहीं समझता कि यह कोई चूक थी। अगर किसी के दक्षिणपंथी अथवा वामपंथी/प्रगतिशील होने का मापदंड गोष्ठियों में जाने को ही बना लिया जाय न कि उसके जीवन और कृतित्व को तो यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण होगा। वैचारिक प्रतिबद्धता का निर्धारण इस तरह के सतही मापदंडों से नहीं होता कि कौन कहां जा रहा है अथवा किससे मिल रहा है।" उन्होंने वामपंथी संकीर्णता को रेखांकित करते हुए कहा कि "हम वामपंथियों के अंदर जो संकीर्णता है वह इस हद तक हावी है कि अगर मैं किसी मंच पर (दक्षिणपंथियों की तो बात ही छोड़ दें), सीताराम येचुरी के साथ बैठा देखा जाऊं तो संशोधनवादी घोषित कर दिया जाऊंगा। हमें सांस्कृतिक/सामाजिक संगठनों और राजनीतिक पार्टियों में फर्क करना चाहिए। दो वर्ष पूर्व गाजियाबाद में आयोजित भगत सिंह की यादगार से संबंधित एक गोष्ठी में मंच पर जैसे ही मेरे बगल में डी.पी. यादव आकर बैठे, मैंने वॉकआउट कर दिया। लेकिन वह एक कुख्यात माफिया का मामला था। मैं राकेश सिन्हा को नहीं जानता लेकिन अगर वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर्मथक हैं तो महज इस कारण हम उनके मंच से अपनी बात कहने में गुरेज करें– यह मुझे उचित नहीं लगता। क्या तुम्हें आमंत्रित करते समय राकेश सिन्हा को तुम्हारे विचारों की जानकारी नहीं थी?"

वस्तुतः यह पूरा प्रकरण वामपंथी संकीर्णता और असहिष्णुता का परिचायक है। इस वामपंथी संकीर्णता ने पूरे साहित्य–जगत् को अपने चपेट में ले लिया है। जहाँ विचार–स्वातंत्र्य कम दबाव व लामबंदी अधिक काम करती है। मंगलेश भी इसी लामबंदी के शिकार हुए।

साहित्यिक जगत् के इस छुआछूत पर अवनिजेश अवस्थी ने टिप्पणी करते हुए कहा कि यह छुआछूत वामपंथियों की ही देन है। उन्होंने लिखा कि "यह ठीक है कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र 'सपाटबयानी' का राग अलापता है, लेकिन इतनी 'सपाट समझी' भी नहीं होनी चाहिए। ठीक है कि रूपवाद के विरोध में अभिधा के सौंदर्य का महत्त्व रूपायित भी किया गया, हालांकि मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों में अभिधा को (काव्य) दोष के रूप में दिखा कर उन्हें सिर्फ तुक का आग्रही तुक्कड़ कवि तक कहने की कोशिश की

गई, लेकिन अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रश्न ऐसा भी क्या खड़ा करना कि आप शोधमयी पत्रकारिता से चश्मदीद गवाह होने की मांग करने लगे।" आगे उन्होंने वामपंथियों की लामबन्दी पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए लिखा कि "....इसलिए बात इस पर करनी चाहिए कि आखिरकार न केवल अज्ञेय जन्मशती को न मनाए जाने का फतवा–सा जारी किया गया, बल्कि ऐसे समारोहों में किसी भी तरह की शिरकत न करने और समारोह स्थलों से 'विजिबल' दूरी बनाए रखने का निर्देश भी दिया गया। अज्ञेय यूं तो कभी मार्क्सवादी नहीं रहे (प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में एकाध बार हिस्सा लेने के अलावा), लेकिन वामपंथी रचनाकारों– रामविलास शर्मा की मृत्यु के बाद इतिहास की शव साधना की जाती है, त्रिलोचन शास्त्री को हरिद्वार हांक दिया जाता है और पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस के लेखक निर्मल वर्मा को हिंदूवादी कह कर हिकारत भरी दृष्टि से देखा जाता है। ऐसे लेखकों की लंबी फेहरिस्त पेश की जा सकती है, जिसे उदय प्रकाश तक अद्यतन किया जा सकता है।"

जनसत्ता में चल रही इस संवादपरक बहस में के. विक्रम राव जैसे वरिष्ठ पत्रकार भी सम्मिलित हुए। उन्होंने इस तरह की वैचारिक लामबन्दी और संकीर्णता को अवसरवाद बताया। उन्होंने लिखा कि "वैचारिक आवाजाही निर्मल–प्रवाह जैसी हो तो बौद्धिक विकास ही कहलाएगी। वरना सोच में कोई भी बदलाव अमूमन मौकापरस्ती का पर्याय बन जाता है। आज के कथित प्रगतिवादी इसी दोयम दर्जे में आते हैं। वे सब आत्ममुग्ध होकर भूल जाते हैं कि हर परिवर्तन प्रगति नहीं होता, हालांकि हर प्रगति परिवर्तन होती है। इन प्रगतिवादियों को सोवियत संघ के विघटन के बाद स्वयं ही गुम हो जाना चाहिए था। भारतीय समाज के साथ दशकों तक धोखाधड़ी करने के प्रायश्चित के तौर पर ही सही, जनवाद का चोला पहनने वालों को इतिहास के नेपथ्य में चला जाना चाहिए था। सोवियत लैंड और लेनिन पुरस्कार के रूप में वजीफा पाने वालों ने भारतीय साहित्य जगत में गुटबाजी और लामबंदी को पाला–पोसा है। वही बात जो जॉन फास्टर डल्लेस ने अमेरिका में और लेवरेंटी बेरिया ने सोवियत रूस में बेशर्मी और अमानवीय ढंग से बढ़ाई। दोनों का सूत्र था– 'मेरे साथ हो या तुम मेरे शत्रु हो। तीसरा विकल्प नहीं है।' बुद्ध का मध्यमार्ग निरर्थक था। इसीलिए प्रगतिशील और जनवादी किसी गिरोह की मानिंद निखालिस अवसरवादिता की पुंजीभूत अभिव्यक्ति बन गए। उनको गंगा से वोल्गा ज्यादा मीठी लगने लगी।" अपने लेख में उन्होंने इतिहास की ऐसी कई घटनाओं का सन्दर्भ देते हुए वामपंथी अवसरवाद को रेखांकित किया।

आरोपों–प्रत्यारोपों की इस कड़ी में पाखी पत्रिका में छपे अपने लेख में अपूर्व जोशी ने इस पूरे प्रकरण और उदय प्रकाश के वार के तह में जाते हुए लिखा कि "मंगलेश डबराल भारत नीति प्रतिष्ठान द्वारा आयोजित एक समारोह में बतौर अध्यक्ष शामिल हुए। सभी जानते हैं कि संस्थान का जुड़ाव राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से है। इसके निदेशक राकेश सिन्हा डॉ. हेडगेवार के जीवनीकार हैं और भाजपा तथा संघ के करीबी भी। डबराल की एक तस्वीर राकेश सिन्हा ने अपने फेसबुक के पन्ने पर डाल दी जिसके बाद मानों भूकंप ही आ गया। तमाम प्रकार की टिप्पणी मंगलेश डबराल पर की जाने लगी। उन्हें 'बौद्धिक गिरगिट से लेकर 'कूढमगज' और 'बूड़मगज' तक कहा जा रहा है। 2009 में योगी आदित्यनाथ के हाथों पुरस्कार लेने की 'भूल' करने वाले उदय प्रकाश को मंगलेश डबराल ने तब बकायदा मोर्चाबंदी कर गरियाया था। अब इन्हीं

मंगलेश की इस 'चूक' का भला उदय प्रकाश क्यों नहीं लाभ उठाते। तो उन्होंने बेहद तल्ख शब्दों में अपने साथ हुए दुर्व्यवहार/अपमान का बदला लिया है। डबराल को 'दैत्यों', 'सत्ता के तिकड़मबाज' और 'मनोरोगियों' की श्रेणी में रख उदयप्रकाश ने भले ही अपनी भड़ास निकाली हो लेकिन मुझे तो उनके कथन ने कामू के नाटक 'कैलिगुल्ला' की स्त्री पात्र 'सीजोनिया' का स्मरण करा दिया जो कहती है–'तुम किसकी सेवा कर रहे हो? मुझे कहने दो कि मैं तुम्हारे बारे में क्या सोचती हूँ? तुम तो मूल्यों के ठेकेदार हो, तुम्हारी आँखों में अमानवीयता है और तुम्हारे शरीर से अजीब सतही गंध आती है।"

आगे उन्होंने हिन्दी साहित्य जगत में खुलेपन के अभाव को रेखांकित किया और लिखा कि "दरअसल जैसा प्रदीप पंत, आनंद स्वरूप वर्मा और तेजेन्द्र शर्मा ने 'जनसत्ता' में ही इस मुद्दे पर लिखा, मामला विचारधारा के संकीर्ण घेरे में कैद हिन्दी साहित्य संसार में खुलेपन के अभाव का है। अजब सोच है जो आप को अपने विरोधियों के साथ वैचारिक आदान–प्रदान, वाद–विवाद करने तक पर रोक लगाती है और आपके समग्र काम का मूल्यांकन केवल इसी आधार पर नहीं करती कि आप हमारे विचारों के नहीं है।" उन्होंने गोलबन्दी के दौर में वैचारिक स्वतंत्रता और प्रतिबद्धता के सामने खड़े संकट पर अफसोस व्यक्त किया।

इस पूरे बहस को भारत नीति प्रतिष्ठान के मानद निदेशक प्रो. राकेश सिन्हा ने अपने लेख " बौद्धिक विमर्श में वैचारिक बहुलता जरूरी" में तार्किक परिणति दी। उन्होंने इतिहास की ऐसी अनेक घटनाओं को रेखांकित किया जहां वामपंथियों द्वारा अपने ही खेमे के लोगों के प्रति गम्भीर असहिष्णुता बरती गई है। स्वस्थ विमर्श को आवश्यक बताते हुए उन्होंने विमर्श के सकारात्मक पक्ष को रेखांकित किया। डबराल की पलटी पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा कि " मुझे आश्चर्य डबराल जी के माफीनामे से इसीलिए हुआ कि वे मिराजकर की तरह पार्टी कार्यकर्ता नहीं हैं। मैंने उन्हें बुलाया था। वे स्वयं नहीं आये थे। उन्होंने बेहिचक अपनी बात रखी थी। मैं वामपंथ के बीच के झगड़े में पड़ना मुनासिब नहीं समझता हूँ। पर बौद्धिक जगत से जुड़ा विषय है अतः इसे नकारा भी नहीं जा सकता है। वास्तव में उदय प्रकाश जी के साथ जो हुआ वह वैचारिक अनैतिकता का मिसाल है। वे अपने भाई की मृत्यु के बाद उनके लिए आयोजित एक सामाजिक कार्यक्रम में हिस्सा लेने गए थे और वहां योगी आदित्यनाथ के साथ मंच साझा करने के कारण उन्हें 'काफिर' घोषित कर दिया गया। इसमें डबराल जी भी शामिल थे। यही असली चूक थी जिसे सही साबित करने के लिए उन्होंने प्रतिष्ठान में अपनी सहर्ष व सहज उपस्थिति को चूक बता दिया।" इसी क्रम में उन्होंने संस्थान के संवाद की पहल में सम्मिलित हुए अन्य प्रतिष्ठित विद्वानों के व्यवहार तथा वैचारिक निष्ठा पर प्रकाश डालते हुए उसकी सराहना भी की। संवाद की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने अपने आलेख को इन्हीं पंक्तियों के साथ सार्थक परिणति दी कि "वैचारिक बहुलता (Ideological Pluralism) और एक दूसरे के प्रति सदिच्छा में आस्था होना इसके लिए आवश्यक है। वामपंथ में स्टालिनवाद को आदर्श मानने वाले स्वतंत्र और सदिच्छायुक्त विमर्श को वामपंथ की पराजय और अवमानना मानते हैं। इसी विडंबना ने डबराल विवाद को जन्म दिया। संवाद का पहला चरण इसी चक्रव्यूह को तोड़ना था।"

इस पूरी बहस व गोलबन्द हमले से वामपंथ के भीतर विचार और नैतिकता का संकट साफ नजर आता है। जहां आप तभी तक रह सकते हैं जबतक उसी गोलबन्दी को सींचते रहें। एक भी कदम बाहर रखने पर या आगे चले जाने पर आप बिरादरी से बाहर कर दिये जायेंगे। ऐसी परिस्थिति में मंगलेश द्वारा अपने आगमन को चूक बताना असहज और अव्यावहारिक नहीं है। इस वामपंथी गोलबंदी का लोग कैसे शिकार होते हैं और हाशिये पर लगा दिये जाते हैं, इस बात से मंगलेश भलीभांति परिचित थे। अतः उन्होंने स्वयं को किनारे लगाये जाने के भय से इस सहज शिरकत को 'चूक' करार देकर अपने ऊपर हो रहे हमलों से स्वयं का बचाव किया।

संवाद को समाप्त करने, रोकने और एक खेमें में लामबंद होकर साहित्य, विचार और भाषा की दुकान चलाने के लिए वामपंथी साहित्यकारों द्वारा की गयी इस लामबंदी और चरित्र–हनन के प्रयास के क्रम में विभिन्न बुद्धिजीवियों ने अपने विचार व्यक्त किए जिसमें से कुछ पक्ष में हैं कुछ विपक्ष में। संवाद की कोशिश पर लगाम लगाने के इस प्रयास ने एक संवाद को ही जन्म दिया। जिससे भारत नीति प्रतिष्ठान द्वारा की गई संवाद की पहल को एक गति मिली। अनेक बुद्धिजीवियों का स्वर उसके साथ मिला और संवाद को एक नई रोशनी में देखने का अवसर मिला साथ ही वामपंथ की वैचारिक संकीर्णता और उसके अन्दर व्याप्त छुआछूत भी समाज के सामने आया। इस विषय पर प्रकाशित विभिन्न बुद्धिजीवियों के विचारों में से कुछ के विचार यहां संकलित किये गये हैं। जिससे पता चलता है कि वैचारिक–दुनिया में कितनी उथल–पुथल, कलह और खलबली मची हुई है? जिसने भारत नीति प्रतिष्ठान की सकारात्मक व सार्थक पहल को निर्मूल करने का पुरजोर प्रयास किया है।

1 आवाजाही के हक में

— ओम थानवी

भारत नीति प्रतिष्ठान द्वारा संवाद में खुलेपन के प्रयास पर संवाद–विरोधियों के मध्य भड़की आग राख के नीचे सुलग रही थी। विमर्श को जाति प्रथा की तरह बांटने वालों में अकुलाहट थी। मंगलेश डबराल के आते ही प्रतिकार, असहिष्णुता, अपराध–बोध और वैचारिक अस्पृश्यता से भरा मन–मस्तिष्क सतह पर आ गया और फूट पड़ा। सोशल मीडिया में लगातार इस प्रकरण पर वामपंथियों के बीच आरोप–प्रत्यारोप चलता रहा। इसे जनसत्ता ने व्यापक विमर्श का रूप प्रदान किया। इसके तत्कालीन संपादक ओम थानवी ने जनसत्ता के रविवारीय अंक (29 अप्रैल, 2012) में लेख लिखकर बहस की शुरुआत की। यहां थानवी जी का पहला लेख प्रस्तुत है :–

इंटरनेट बतरस का एक लोकप्रिय माध्यम बन गया है। घर–परिवार से लेकर दुनिया–जहान के मसलों पर लोग सूचनाओं, जानकारियों, विचारों का आदान–प्रदान करते हैं, प्रतिक्रिया देते हैं। ब्लॉग, पोर्टल या वेब–पत्रिकाएं और सार्वजनिक संवाद के 'सोशल' ठिकाने यानी फेसबुक–ट्वीटर आदि की खिड़कियां आज घर–घर में खुलती हैं।

गली–मुहल्लों, चाय की थड़ी या कहवा–घरों, क्लबों–अड्डों या पान की दुकानों की प्रत्यक्ष बातचीत के बरक्स इंटरनेट की यह बतरस काम की कितनी है? मेरा अपना अनुभव तो यह है कि त्वरित और व्यापक संचार के बावजूद इंटरनेट के मंचों पर बात कम और चीत ज्यादा होती है।

उदाहरण के लिए हाल में इंटरनेट पर विकट चर्चा में रहे दो कवियों का मसला लें। विष्णु खरे और मंगलेश डबराल को लेकर कुछ लोगों ने रोष प्रकट किया। उन्हीं की विचारधारा वाले 'सहोदर' उन पर पिल पड़े। मंगलेश तो नेट–मार्गी हैं नहीं, ई–मेल भेज–भिजवा देते हैं। विष्णु खरे चौकन्ने होकर ब्लॉग–ब्लॉग की खबर रखते हैं, उन्हीं के शब्दों में, '(ताकि) देख पाऊं कि उनमें जहालत की कौन–सी ऊंचाइयां–नीचाइयां छुई जा रही हैं।' इसी सिलसिले में वे इंटरनेट पर नयी पीढ़ी के जुझारू ब्लॉगरों–नेटवर्करों से जूझते देखे गये, डबराल नहीं। हालांकि डबराल की चुप्पी को लोग संदेह की नजर से देख रहे हैं।

हुआ यों कि विष्णु खरे एक ब्लॉग पर हिंदी कवियों पर की गयी टीका से त्रस्त हुए। गुंटर ग्रास की इजराइल–विरोधी कविता 'जो कहा जाना चाहिए' इंटरनेट के जमाने में दुनिया के कोने–कोने में चर्चित हो गयी है। तब और ज्यादा, जब उस कविता में 'दुनिया के अमन–चैन का दुश्मन' करार दिये जाने पर भड़क उठे इजराइल ने अपने देश में गुंटर ग्रास के प्रवेश पर पाबंदी लगा दी। युवा पत्रकार अभिषेक श्रीवास्तव ने उस कविता का हिंदी अनुवाद अपने ब्लॉग 'जनपथ' पर दिया जो मेल–फेसबुक आदि के जरिये प्रसार पा गया। कविता के साथ दी गयी उनकी वह टिप्पणी विष्णु खरे को नागवार गुजरी, जिसमें कहा गया था कि साहित्य व राजनीति में दूरी बढ़ती जा रही है और कवि–लेखक सुविधापसंद खोल में सिमटते जा रहे हैं।

खरे ने अपने स्वभाव के अनुसार कड़े तेवर में ब्लॉग लेखक को लिखा : "जब कोई जाहिल यह लिखता है कि काश हिंदी में कवि के पास प्रतिरोध की ग्रास–जैसी सटीक बेबाकी होती तो मैं मुक्तिबोध सहित उनके बाद हिंदी की सैकड़ों अंतरराष्ट्रीय–राजनीतिक प्रतिवाद की कविताएं दिखा सकता हूं, आज के युवा कवियों की भी, जो ग्रास की इस कविता से कहीं बेहतर हैं।... लेकिन वे (ग्रास) और इस मामले में उनके आप सरीखे समर्थक इजराइल की भर्त्सना करते समय यह क्यों भूल जाते हैं कि स्वयं ईरान में इस्लाम के नाम पर फासिज्म है।..."

सार्वजनिक हुए पत्राचार में यह सवाल भी उठा कि विष्णु खरे ने दिल्ली के पुस्तक मेले में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और शिवसेना से जुड़े दलित कवि नामदेव ढसाल की किताब का लोकार्पण क्यों किया। लोकार्पण के वक्त उनके

उदय प्रकाश की उत्तेजना का कारण है। वे सोलह साल सीपीआई के पूर्णकालिक सदस्य रहे हैं। उससे भी ज्यादा– बाईस वर्ष सीपीएम से जुड़े जनवादी लेखक संघ में सक्रिय रहे। सात साल पहले उनका मोहभंग हुआ, जब मार्क्सवादी लेखकों को अर्जुन सिंह जैसे नेताओं की गोद में जा बैठते पाया।....दिलचस्प बात है कि उदय प्रकाश ही नहीं, अन्य मार्क्सवादी लेखक भी जब–तब अपने हमकलम साथियों के रोष का शिकार होते रहे हैं। मसलन, सुलभ शौचालय वाले बिंदेश्वरी पाठक से पुरस्कार लेने पर त्रिलोचन या केदारनाथ सिंह अटल बिहारी वाजपेयी और विष्णु नागर त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी के हाथों सम्मानित होने के लिए। पंकज बिष्ट देहरादून में रमाशंकर घिल्डियाल "पहाड़ी" की जन्मशती पर भाजपाई कवि रमेश पोखरियाल "निशंक" के साथ मंच पर बैठे तो इसकी चर्चा भी तल्खी में हुई।....ऐसे में मंगलेश डबराल के राकेश सिन्हा के साथ उठने–बैठने की चर्चा होना स्वाभाविक था। यों मंगलेश पहले गोविंदाचार्य के साथ भी मंचासीन हो चुके हैं, लेकिन मामला बात सामने आने और मुद्दा बनने भर का है।

साथ मंगलेश डबराल भी थे। खरे ने जवाब दिया : "नामदेव ढसाल मराठी कविता के सर्वकालिक बड़े कवियों में है। आज उसका महत्त्व अपने समय के तुकाराम से कम नहीं।....मराठी में कौन नहीं जानता कि नामदेव शिव सेना और आरएसएस से संबद्ध है।.. मैं मानता हूं कि इलाहाबाद में पाकिस्तान और पार्टीशन थ्योरी का प्रतिपादन करने वाले अल्लामा इकबाल का फिरन निरपराध मुस्लिम–हिंदुओं के खून से रंगा हुआ है। फिर भी हम उन्हें बड़ा शायर मानते हैं और भारत के अनऑफिशियल, जन–गण–मण से कहीं अधिक लोकप्रिय, राष्ट्र–गीत 'सारे जहां से अच्छा' को गाते हैं या नहीं?"

यहां यह याद करना उचित होगा कि पिछले साल के अंत में मुंबई में विष्णु खरे ने जब एक लाख रुपये का एक विवादग्रस्त "परिवार" पुरस्कार (जिसे स्वीकार करने के बाद उन्होंने लंबा स्पष्टीकरण भी दिया) लिया, तब भी शर्त रखी थी कि "पुरस्कार मुझे नामदेव ढसाल या चंद्रकांत पाटील के हाथों दिया जाए।"

मंगलेश इंटरनेट पर इस तरह उलझे : महीने के पहले रविवार की बात है। इंटरनेट के बौद्धिक हिंदी साहित्य के बदलते सरोकारों पर एकाग्र थे। मंगलेश उनकी बहस के केंद्र में, बल्कि निशाने पर थे। वे एक कार्यक्रम में गये थे, जिसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ हेडगेवार के जीवनीकार राकेश सिन्हा की संस्था भारत नीति प्रतिष्ठान (आईपीएफ) ने आयोजित किया था। कार्यक्रम समांतर सिनेमा पर केंद्रित था। मंगलेश जी ने उसकी अध्यक्षता की। राकेश सिन्हा ने फेसबुक पर अपने पन्ने (जिस पर सजे स्थायी फोटो में सिन्हा के साथ पूर्व सरसंघ चालक केएस सुदर्शन, भाजपा नेता अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी और रविशंकर प्रसाद खड़े मिलते हैं) पर उक्त कार्यक्रम की तीन तस्वीरें प्रसारित कर दीं। इनमें एक में सिन्हा (प्रतिष्ठान के निदेशक के नाते) मंगलेश डबराल को गुलाब के फूल दे रहे हैं, दूसरी तस्वीर में मंगलेश उनके साथ मंच पर बैठे हैं।

जैसा कि फेसबुक जैसे तुरता मगर संक्षिप्त टिप्पणियों वाले माध्यम में होता है, इस प्रसार पर बेहिसाब प्रतिक्रियाएं आयीं। सिन्हा के अपने पन्ने पर, जाहिर है, एक ढंग की। मसलन, किन्हीं अनुरोध पासवान ने लिखा : "शानदार...डबराल जाने–माने वामपंथी हैं, फिर भी उन्होंने आपके साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के "थिंक टैंक" मंच पर शिरकत की।.."

"मोहल्ला लाइव' पोर्टल (पत्रिका) चलाने वाले पत्रकार अविनाश दास ने फेसबुक पर सिन्हा–डबराल की तस्वीर देते हुए लिखा : "अभी उस दिन मंगलेश डबराल को कॉमरेड चंद्रशेखर की हत्या की साजिश के सूत्रधार शहाबुद्दीन को बरी करने के खिलाफ जंतर–मंतर पर कविता पढ़ते देखा था। और अब ड्रैक्युला नरेंद्र मोदी की पार्टी भारतीय जनता पार्टी के विषैले विचारक राकेश सिन्हा के साथ मंच साझा करते हुए देख रहा हूं। ये वही मंगलेश डबराल हैं न, जिन्होंने योगी आदित्यनाथ के साथ एक मंच पर मौजूद उदय प्रकाश के खिलाफ भयानक मोर्चाबंदी कर दी थी?"

कथाकार प्रभात रंजन इंटरनेट की "जानकीपुल" पत्रिका के संपादक हैं। उन्होंने भी फेसबुक पर लिखा : "मैं हेडगेवार के जीवनीकार राकेश सिन्हा के साथ अपने प्रिय कवि मंगलेश डबराल को मंच पर देखकर हतप्रभ हूं।..कॉमरेड तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?"

दोनों टिप्पणियों पर कोई तीन सौ प्रतिक्रियाएं एक ही रोज में आ गयीं। सौ प्रतिक्रियाएं तो टिप्पणियों को महज 'लाइक' बता कर सहमति जताने वाली थीं। बाकी की बानगी देखिए–गिरिराज किराडू : "समांतर सिनेमा पर बात करने के लिए क्या यही मंच बचा था?" प्रकाश राय : "कूढ़मगज और बूढ़मगज प्रगतिशील बौद्धिकों की यही नियति है।" शारदा दुबे : "बौद्धिक गिरगिट हर जगह मौजूद हैं।" नवनीत बेदार : "कृष्ण करें तो लीला, हम करें तो।..?" सुशीला पुरी : "पहाड़ पर लालटेन जलाने और वास्तव में रोशनी होने में बहुत फर्क है।.."प्रेमचंद गांधी : "संकट यह विकराल है, कहां बैठे डबराल हैं!"

सबसे आक्रामक तेवर में वहां उदय प्रकाश मौजूद थे। लंबी टिप्पणी में उन्होंने लिखा।.."मैं इन दैत्यों, सत्ता के तिकड़मबाजों और मनोरोगियों को जानता हूं।.. मानवीय सरोकारों वाली विचारधाराओं से उनका कोई लेना–देना नहीं है।.. वे घोर जातिवादी हैं।.. मैं, मेरा परिवार, लाखों अल्पसंख्यक, वंचित, सत्ताहीन और पिछड़े वर्ग के लोग बुरी तरह इन दगाबाजों के कृत्यों के शिकार बने हैं।..."

उदय प्रकाश की दूसरी टिप्पणीः "क्या हम हिंदी के अप्रतिम कवि और प्रगतिशील कविता की वृहत्रयी में से एक त्रिलोचन को याद करें, जो पहले स्वयं वामपंथी संगठन से निकाले गये, फिर दिल्ली से उनको शहर बदर करके हिंदू तीर्थ–स्थल हरिद्वार भेज दिया गया। अत्यंत विषम परिस्थितियों में उनकी मृत्यु हुई।..क्या हम शैलेश मटियानी को याद करें, जिन्हें जिंदा रहने और अपना परिवार पालने के लिए कसाई (चिकवा–गीरी) का काम करना पड़ा, ढाबों में बर्तन मांजने पड़े?... क्या हम स्वदेश दीपक के बारे में सोचें, जो 'दास्तान–ए–लापता' हैं?... सच यह है कि हिंदी कविता, साहित्य, अकादेमिकता, मीडिया, अखबार।... सब कुछ इन्हीं के अधीन है, इनमें से अधिकांश अर्ध–शिक्षित या अशिक्षित हैं, मीडियॉकर और अयोग्य हैं।... ये शहीद चंद्रशेखर की स्मृति में आयोजित सभाओं में कविताएं पढ़ते हैं और सत्ता द्वारा फूल–मालाओं से लाद दिये जाते हैं। हम मार्क्स या बुद्ध का नाम लेते हैं और औलिया से अपनी खैरियत की दुआ मांगते हैं!.."

उदय प्रकाश* की उत्तेजना का कारण है। वे सोलह साल सीपीआई के पूर्णकालिक सदस्य रहे हैं। उससे भी ज्यादा– बाईस वर्ष सीपीएम से जुड़े जनवादी लेखक संघ में सक्रिय रहे। सात साल पहले उनका मोहभंग हुआ, जब मार्क्सवादी लेखकों को अर्जुन सिंह जैसे नेताओं की गोद में जा बैठते पाया। वे अब भी वामपंथी हैं, लेकिन किसी पार्टी या पार्टी के पोशीदा अखाड़े के सदस्य नहीं हैं। उनकी देश और देश से बाहर बढ़ी प्रसिद्धि से रश्क करने वाले साथी अब उनकी निंदा के मौके ढूंढ़ते हैं। तीन साल पहले

*उदय प्रकाश ने अवार्ड वापसी मुहिम की शुरुआत की।

गोरखपुर में उदय के फुफेरे भाई का निधन हो गया। वे जिस कॉलेज के प्राचार्य थे, वहां उनकी बरसी पर आयोजित कार्यक्रम में कॉलेज की कार्यकारिणी के अध्यक्ष और विवादग्रस्त सांसद योगी आदित्यनाथ ने उदय प्रकाश को उनके भाई की स्मृति में स्थापित पुरस्कार दिया। परमानंद श्रीवास्तव सरीखे शहर के वरिष्ठ लेखक वहां सहज मौजूद थे, पर दिल्ली में जैसे भूचाल आ गया।

लेखकों के एक बड़े समूह ने उदय प्रकाश के खिलाफ एक 'विरोध–पत्र' जारी किया जिसमें लिखा था :"... हम अपने लेखकों से एक जिम्मेदार नैतिक आचरण की अपेक्षा रखते हैं और इस घटना के प्रति सख्त–से–सख्त शब्दों में अपनी नाखुशी और विरोध दर्ज करते हैं।" बयान पर मंगलेश डबराल और विष्णु खरे के अलावा ज्ञानरंजन, मैनेजर पांडे, असद जैदी, लीलाधर जगूड़ी, आनंदस्वरूप वर्मा, पंकज बिष्ट, वीरेन डंगवाल, आलोक धन्वा आदि कोई साठ लेखकों के नाम थे।

एक लेखक के किसी कार्यक्रम में हिस्सा लेने के विरोध में इतनी बड़ी तादाद में हिंदी लेखक न कभी पहले एकजुट हुए, न बाद में। उदय बार–बार कहते रहे कि उन्हें खबर नहीं थी, न अंदाजा कि उनके और भाई की स्मृति के बीच वहां योगी आदित्यनाथ आ जाएंगे। यह भी कि उनके विचार मंच पर योगी के साथ बैठने से नहीं बदले हैं। पर उनकी बात नहीं सुनी गयी।

कुछ लेखक–पत्रकार जरूर तब उदय प्रकाश के समर्थन में आये। दिलीप मंडल (हिन्दी इंडिया टुडे के पूर्व संपादक) ने आदित्यनाथ की मौजूदगी पर लामबंद होने वाले लेखकों के प. बंगाल की (तत्कालीन) जनवादी सरकार की हिंसा पर चुप्पी साधने को आड़े हाथों लिया : 'अच्छा होता अगर योगी आदित्यनाथ के हाथों उदय प्रकाश कोई सम्मान न लेते।.. (पर) शायद उससे भी अच्छा होता कि उदय प्रकाश के आदित्यनाथ से सम्मान लेने के खिलाफ गोलबंदी दिखाने वाले साहित्यकारों ने लालगढ़ में आदिवासियों के संहार के खिलाफ या नंदीग्राम और सिंगूर में राजकीय हिंसा के खिलाफ भी ऐसा ही वक्तव्य जारी किया होता....'

दिलचस्प बात है कि उदय प्रकाश ही नहीं, अन्य मार्क्सवादी लेखक भी जब–तब अपने हमकलम साथियों के रोष का शिकार होते रहे हैं। मसलन, सुलभ शौचालय वाले बिंदेश्वरी पाठक से पुरस्कार लेने पर त्रिलोचन या केदारनाथ सिंह, अटल बिहारी वाजपेयी और विष्णु नागर त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी के हाथों सम्मानित होने के लिए। पंकज बिष्ट देहरादून में रमाशंकर घिल्डियाल "पहाड़ी" की जन्मशती पर भाजपाई कवि रमेश पोखरियाल "निशंक" के साथ मंच पर बैठे तो इसकी चर्चा भी तल्खी में हुई।

ऐसे में मंगलेश डबराल के राकेश सिन्हा के साथ उठने–बैठने की चर्चा होना स्वाभाविक था। यों मंगलेश पहले गोविंदाचार्य के साथ भी मंचासीन हो चुके हैं, लेकिन मामला बात सामने आने और मुद्दा बनने भर का है।

लेकिन क्या ये प्रसंग सचमुच ऐसे हैं, जिन्हें लेकर इतना हल्ला होना चाहिए? क्या हम ऐसा समाज बनाना चाहते हैं, जिसमें उन्हीं के बीच संवाद हो जो हमारे मत के हों? विरोधी लोगों के बीच जाना और अपनी

बात कहना क्यों आपत्तिजनक होना चाहिए? क्या अलग संगत में हमें अपनी विचारधारा बदल जाने का भय है? क्या स्वस्थ संवाद में दोनों पक्षों का लाभ नहीं होता? यह बोध किस आधार पर कि हमारा विचार श्रेष्ठ है, दूसरे का इतना पतित कि लगभग अछूत है! पतित है तो उस पर संवाद बेहतर होगा या पलायन? क्या संघ परिवार और उसके हमजात शिवसैनिकों ने पहले ही हमारे यहां प्रतिकूल विचार या सृजन को कुचलने का कुचक्र नहीं छेड़ रखा है? असहिष्णुता की काट के लिए एक उदार और सहिष्णु रवैया असरदार होगा या उसी असहिष्णुता का जो किसी एकांगी विचारधारा या (लेखक) संघ की राजनीति से संचालित होती है?एक मतवादी घेरे में पनपने वाला समाज कितना लोकतांत्रिक होगा? दुर्भाव और असहिष्णुता का यह आलम हमें स्वतंत्र भारत का एहसास दिलाता है या स्तालिनकालीन रूस का?

कहा जाएगा कि विपक्षी मंच पर जाकर प्रगतिशील विचारधारा के लोग प्रतिगामी विचारधारा को एक तरह की विश्वसनीयता प्रदान करते हैं। यह भी एक खुशफहमी है। क्या इस तर्क को उलट कर यों नहीं दिया जा सकता कि आपके विचार का ही असर यानी विश्वसनीयता है, जो विपक्षी को भी आपकी ओर देखने को विवश कर रही है!

प्रगति या जन–गण की बात करने वाले अपनी ही विचारधारा के घेरे में गोलबंद होने लगे, इसके लिए खुद 'विचार'–वान लेखक कम कसूरवार नहीं हैं। पहले देश में कभी एक कम्युनिस्ट पार्टी थी और उसके पीछे चलने वाला एक लेखक संघ। पार्टी टूटी तो संघ के लेखक भी टूट गये। एक और लेखक संघ बना। बाद में एक और। इन लेखक संघों ने अक्सर अपने मत के लेखकों को ऊंचा उठाने की कोशिश की है और दूसरों को गिराने की। एक ही विचारधारा के होने के बावजूद लेखक संघों में राग–विराग देखा जाता है। लेखक का स्तर या वजन भी संघ के विश्वास के अनुरूप तय होने लगा है। इसी संकीर्णता की ताजा परिणति है कि कौन लेखक कहां जाए, कहां बैठे, क्या कहे, क्या सुने । इसका निर्णय भी अब लेखक संघ या सहमत–विचारों वाले दूसरे लेखक करने लगे हैं।

गौर करने की बात है कि हिंदी साहित्य में ऊंच–नीच या अपने–पराये का जो सांस्कृतिक जातिवाद पनप रहा है, वह कला या सिनेमा आदि की दुनिया में देखने को नहीं मिलता। वहां धुर विरोधी एक मंच, प्रदर्शनी या समारोह में शिरकत कर सकते हैं, अपने साथियों के फतवे की फिक्र किये बगैर। हमारे समाज में भी, जहां घोर जातिवाद व्याप्त है, कट्टर से कट्टर लोग विजातीय घर या घेरे में थोड़ी आवाजाही बनाये रखते हैं!

मंगलेश डबराल सिनेमा गोष्ठी के मामले में शायद इसलिए निशाना बने, क्योंकि पहले वे खुद ऐसी शिरकतों का विरोध करते आये हैं। उदय प्रकाश तो साम्यवादी लेखक ही थे, जिनके खिलाफ लामबंदी की गयी। वरना गोपीचंद नारंग जब साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष बने, तो मंगलेश डबराल ने अकादेमी के तमाम कार्यक्रमों में हिस्सा लेने से इनकार कर दिया था। ऐसे तेवर के चलते उन्होंने राकेश सिन्हा के बुलावे को स्वीकार किया तो विवाद के बीज वहां जाते वक्त शायद वे खुद बो गये थे। वे कह सकते हैं कि राकेश सिन्हा बुद्धिजीवी हैं, आदित्यनाथ पर तो संगीन आरोप लगते रहे हैं।

तब, अगर नामवर सिंह या विभूतिनारायण राय यह कहें कि तरुण विजय ने कभी आदित्यनाथ जैसा हिंसक बयान नहीं दिया और विजय की जिस किताब का लोकार्पण उन्होंने पुस्तक मेले की भीड़ में किया, वह सांस्कृतिक लेखों का संकलन मात्र है, तो इसमें आपत्ति क्यों हो? दूसरे, क्या राकेश सिन्हा गोपीचंद नारंग से बड़े लेखक हैं? अज्ञेय जन्मशती आयोजनों का मंगलेश और जन संस्कृति मंच के अन्य लेखकों ने बहिष्कार किया। मंच के अध्यक्ष मैनेजर पांडे ने अपने स्तर पर जरूर शिरकत की। पर इसके लिए उन्हें मंच के लोगों से सुनना पड़ा, ऐसा उन्होंने खुद बताया। क्या अज्ञेय राकेश सिन्हा से भी कमतर बुद्धिजीवी थे?

जैसे मंगलेश जी के विपरीत विचार–मंच पर चले जाने से उनके अचानक उदारचेता लोकतांत्रिक हो जाने का आभास होता है, विष्णु खरे के कथन से सहसा उनके रूपवादी हो जाने का भ्रम पैदा होता है। नामदेव ढसाल संघ और शिवसेना से संबद्ध होने के बावजूद तुकाराम जितने महान कवि हैं और इकबाल भारत–पाक बंटवारे के जनक और नितांत सांप्रदायिक होकर भी बड़े कवि के सम्मान के हकदार हैं। जैसे ढसाल को तुकाराम के सदृश सबसे पहले दिवंगत दिलीप चित्रे ने ठहराया था, विचार से सृजन की दूरी की बात हिंदी में आधी सदी पहले "तीसरा सप्तक" में विजयदेव नारायण साही ने कही।

मजदूरों के बीच काम करने वाले समाजवादी साही ने अपने "वक्तव्य" में कहा था: "शेली महान क्रांतिकारी कवि था, इसलिए उसको चाहता हूं। लेकिन उसके नेतृत्व में क्रांतिकारी होना नहीं चाहता। बाबा तुलसीदास महान संत कवि थे, लेकिन वह संसद के चुनाव में खड़े हों तो उन्हें वोट नहीं दूंगा। नीत्शे का "जरथुस्त उवाच" सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से जला देने लायक है, पर कविता की दृष्टि से महान कृतियों में से एक है। उसकी एक प्रति पास रखता हूं और आपसे भी सिफारिश करता हूं।' कुछ इसी तरह के अभेद की बात फणीश्वरनाथ रेणु ने अज्ञेय पर एक संस्मरण लिखते हुए कही थी।

विदेश में तो अभेद का यह सलीका बगैर किसी गांठ के जाने कब से कायम है। वामपंथी पाब्लो नेरूदा कवि के नाते वहां आदर पाते हैं तो दक्षिणपंथी, यहां तक कि फासीवाद समर्थक एजरा पाउंड भी। कला में पाब्लो पिकासो साम्यवादी होकर प्रतिष्ठित होते हैं, तो कला–मर्मज्ञ आंद्रे मालरो दक्षिणपंथी सरकार में मंत्री बनकर। साम्यवादी जॉर्ज ऑरवेल अपनी वैचारिक काया–पलट के बावजूद सिद्ध कथाकार माने जाते हैं और ज्यां जेने ढेर अपराधों–सजाओं के बाद नाटककार के रूप में याद रखे जाते हैं। ज्यां पाल सात्रं ने जेने की सजा माफ कराने की मुहिम ही नहीं छेड़ी थी, जेने पर उन्होंने एक किताब भी लिखी जिसका नाम था, "संत जेने"!

विष्णु खरे तो विश्व–साहित्य के पंडित हैं। वे बताएं, हिंदी के कतिपय विचारवादी जैनेंद्र कुमार, अमृतलाल नागर, इलाचंद्र जोशी, फणीश्वरनाथ रेणु, विजयदेव नारायण साही, धर्मवीर भारती, भवानी प्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, मनोहर श्याम जोशी या हमारे बीच सृजनरत कुंवर नारायण, कृष्णा सोबती और कृष्ण बलदेव वैद जैसे लेखकों की लगभग अनदेखी क्यों करते हैं? निर्मल वर्मा और अज्ञेय के नाम से तो वे जैसे छड़क ही खाते हैं। एक को विचारधारा के स्तर पर साम्यवाद से मोहभंग के लिए साहित्य में तिरस्कृत करने की

कोशिश की जाती है, दूसरे को उसका तमाम सृजन नजरअंदाज करते हुए व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, जानकी–यात्रा इत्यादि के नाम पर। यह दूसरी बात है कि ऐसा कोई तिरस्कार इन लेखकों को आधुनिक हिंदी साहित्य में उच्च प्रतिष्ठा हासिल करने से रोक नहीं पाया। अगर अब कुछ वामपंथी आलोचक भी उनका गुणगान करते हैं तो शायद उन लेखकों की अपूर्व प्रतिष्ठा के दबाव के चलते ही।

बहरहाल, साहित्य अगर अनुभव से पैदा होता है, विचारधारा से नहीं तो नामदेव ढसाल या इकबाल वाले तर्क को खरे जी हिंदी साहित्य में लागू कराने की पहल क्यों नहीं करते? पहले, अपने ही समानधर्मी लेखक समुदाय के बीच!

(जनसत्ता, 29 अप्रैल, 2012)

2 वह एक चूक थी

– मंगलेश डबराल

अपनी ही विचारधारा से जुड़े लोगों और सोशल मीडिया पर आलोचना और कटूक्तियां झेल रहे मंगलेश डबराल ने जनसत्ता में बाकायदा एक लेख के माध्यम से माफी मांगते हुए कहा कि भारत नीति प्रतिष्ठान में जाना एक चूक थी। अपने लेख में उन्होंने दो प्रमुख बातें कहीं। पहला यह कि उन्हें सूचित किया गया था कि संस्थान सिर्फ जगह उपलब्ध करा रहा है। दूसरा कि समांतर सिनेमा पर शोधपत्र प्रस्तुत करने वाले शोधार्थी द्वारा उन्हें आमंत्रित किया गया है। इसके बावजूद उन्होंने यह जानकारी हासिल की कि प्रतिष्ठान में रामशरण जोशी, अभय दुबे, कमर आगा, ज्ञानेन्द्र पांडे, नीलाभ मिश्रा और अरविन्द केजरीवाल जैसे लोग आ चुके हैं। जिस तरह से डबराल ने स्वयं को इससे अलग करने का प्रयास किया है वह बेहतर और कमतर वाली मानसिकता का प्रतीक है जो संवाद से ज्यादा आत्ममुग्ध और अहंकारी नजर आ रहा है। डबराल ने अपनी सफाई में निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं :–

कायदे से होना यह चाहिए था कि 'भारत नीति प्रतिष्ठान' में मेरे जाने की घटना के बारे में दो–एक फेसबुक ठिकानों पर चली बहस के आधार पर लंबी और लगभग चरित्र–हनन करने वाली टिप्पणी लिखने से पहले 'जनसत्ता' के कार्यकारी संपादक ओम थानवी मुझसे अपनी सफाई देने के लिए कहते, क्योंकि इस बहस में मैं पीड़ित पक्ष (एग्रीव्ड पार्टी) था। लेकिन उन्होंने एक जीवित मनुष्य और कवि के बजाय फेसबुक की आभासी दुनिया पर विश्वास करना बेहतर समझा और पत्रकारिता की बुनियादी नैतिकता को धता बताते हुए मुझे कटघरे में घसीट लिया। हद तो यह है कि उन्होंने फेसबुक पर ही मेरे कुछ मित्रों द्वारा जारी किए गए एक स्पष्टीकरण को भी अत्यंत सुविधाजनक ढंग से अनदेखा कर दिया, जिसमें मैंने स्वीकारोक्ति के साथ यह बताने की कोशिश की थी कि मैं किस भ्रांति के कारण वहां चला गया। थानवी के आलेख से लगता है कि वे चतुर सुजान की तरह हर चीज का बारीक ब्योरा सहेज कर रखते हैं, लेकिन जब मैंने उन्हें फोन पर इस सफाई की जानकारी दी तो वे एकदम अनजान बन गए। मेरा स्पष्टीकरण इस तरह था :

‘पिछले कुछ दिनों से कुछ फेसबुक ठिकानों पर यह सवाल पूछा जा रहा है कि मैं ‘भारत नीति प्रतिष्ठान’ नामक एक ऐसी संस्था में समांतर सिनेमा पर वक्तव्य देने के लिए क्यों गया, जिसके मानद निदेशक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समर्थक राकेश सिन्हा हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि यह एक चूक थी, जो मुझसे असावधानी में हो गई। समांतर सिनेमा की एक शोधार्थी पूजा खिल्लन को मैंने कभी इस विषय में कुछ सुझाव दिए थे और एक दिन उन्होंने फोन पर मुझसे कहा कि एक कार्यक्रम में उनके पेपर–पाठ के दौरान मैं कुछ बोलने के लिए आऊं। दफ्तर में काम की व्यस्तता के बीच मैंने इंटरनेट पर इस संस्था के बारे में कुछ सूचनाएं देखीं कि यह एक दक्षिणपंथी संस्था है, लेकिन उसमें रामशरण जोशी, अभय कुमार दुबे, कमर आगा, ज्ञानेंद्र पांडे, नीलाभ मिश्र, अरविंद केजरीवाल आदि कई लोग वक्ता के रूप में शामिल हुए हैं। इससे यह भ्रम हुआ कि दक्षिणपंथी और हिंदुत्ववादी विचारधारा की ओर झुकाव के बावजूद यह पेशेवर संस्थान है। मुझे यह भी सूचित किया गया था कि संस्थान की भूमिका सिर्फ जगह उपलब्ध कराने तक सीमित है। कुल मिला कर मैं इस पर ज्यादा गंभीरता से विचार नहीं कर पाया।’

उदय प्रकाश को योगी आदित्यनाथ द्वारा सम्मानित किए जाने पर हुए विरोध का जो मसविदा मेरे पास आया उस पर मैंने हस्ताक्षर भर किए थे। इसके बाद जब एक लेखक के जन्मदिन की दावत में मैंने सहज ढंग से उनसे हाथ मिलाया तो उन्होंने तुरंत मुझे अपमानित करते हुए कहा कि मैं उनके विरुद्ध षड्यंत्र करना बंद कर दूं।... मुझे लगता है कि उदय उन लेखकों में हैं, जो अपनी आलोचना का जरा भी सामना नहीं कर पाते। मुझसे उनकी नाराजगी कई वर्ष पहले शुरू हो गई थी जब मैंने उन्हें कहा था कि आपको कॉमरेड गोरख पांडेय जैसे मासूम, वामपंथी सांस्कृतिक आंदोलन में अद्भुत योगदान करने वाले, लेकिन प्रायः सभी सुविधाओं से वंचित और संतापित कवि के जीवन पर ‘रामसजीवन की प्रेमकथा’ नामक कहानी नहीं लिखनी चाहिए थी। बहुत से लोग जानते हैं कि गोरख पांडेय को इस कहानी ने कितना विचलित किया था और अंततः उन्होंने एक कारुणिक ढंग से संसार से विदा ली।

‘सुश्री खिल्लन का पर्चा और मेरा वक्तव्य, दोनों सेक्युलर और प्रगतिशील दृष्टिकोण के थे। मैंने अपने व्यक्तव्य में अन्य कई मुद्दों के साथ फिल्मों में हाशिये के लोगों, अल्पसंख्यकों और महिलाओं के चित्रण के सवाल पर भी बात की, जिसमें ‘गर्म हवा’, ‘नसीम’, ‘अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है’ और ‘मैसी साहब’ आदि की खासतौर से चर्चा थी। खिल्लन के पर्चे में मकबूल फिदा हुसैन की फिल्म ‘गजगामिनी’ के

कलात्मक दृश्यों पर बात की गई थी। लेकिन गोष्ठी में क्या कहा गया, बहस इस पर नहीं, बल्कि वहां जाने के सवाल पर है, जिसका अंतिम जवाब यही है कि यह एक चूक थी।'

'अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के स्तर पर मेरा रिकॉर्ड साफ ही रहा है। मैंने साहित्य अकादेमी मिलने पर उत्तराखंड– तब उत्तरांचल– के मुख्यमंत्री के हाथों प्रेस क्लब देहरादून से सम्मानित होना अस्वीकार किया, फिर भाजपा शासन में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन, न्यूयॉर्क का निमंत्रण अस्वीकार किया और तीन साल पहले बिहार सरकार का प्रतिष्ठित राजेंद्र माथुर पत्रकारिता पुरस्कार भी नहीं लिया, क्योंकि उस सरकार में भाजपा शामिल थी। प्रायः कुछ न छोड़ने, कुछ न त्यागने के इस युग में मेरे ये कुछ विनम्र 'अस्वीकार' थे।'

'यह भी सच है कि एक मनुष्य का इतिहास उसके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाता है और उसके साथ चलता रहता है।'

इस स्पष्टीकरण में मैं अब यह भी जोड़ दूं कि ताकतवर, सांप्रदायिक, निजी पूंजी के स्वार्थों से संचालित और फासिस्ट विचार वाले संस्थानों और लोगों से दूर रहने की आत्मश्लाघा–विहीन कोशिशों के कड़ी में मेरा एक कदम 2011 के जयपुर साहित्य उत्सव में न जाना भी था, क्योंकि उत्सव के प्रायोजकों में हमारे देश का प्राकृतिक जल सुखाने और प्रदूषित करने वाली कोकाकोला, खनिज संपदा के खनन और लोगों के विस्थापन की जिम्मेदार रियो तिंतो और बिल्डर माफिया डीएससी जैसी कंपनियां शामिल थीं और इसमें शिरकत करने वाले लेखक श्रीलंका के गाले साहित्य समारोह में भी जाने वाले थे, जहां उन्हीं दिनों तमिलों का व्यापक संहार करने के बाद एक क्रूर विजय हासिल की गई थी।

गंदगी और ताकत की दुनिया में सफाई करना और सफाई देना एक मानवीय काम है (पूरी दुनिया को साफ करने के लिए मेहतर चाहिए– मुक्तिबोध)। लिहाजा कुछ और सफाइयां:

1) मैं वरिष्ठ कवि विष्णु खरे के साथ नामदेव ढसाल की कविताओं के हिंदी अनुवाद का लोकार्पण करने इसलिए गया था कि नामदेव ढसाल अपने जीवन के उत्तरार्ध में शायद आजीविका के लिए एक जनविरोधी राजनीतिक दल से जोड़–तोड़ करने के बावजूद मराठी में मर्ढेकर के बाद सबसे बड़े कवि माने जाते हैं, उनकी कविता ने मराठी की सवर्ण कविता का किला ढहा दिया और उनके 'दलित पैंथर' आंदोलन की भारतीय कविता में वैसी ही भूमिका है, जो अमेरिका में ब्लैक पोएट्री की है। उस आयोजन में मैंने ढसाल की राजनीति के प्रति अपना विरोध व्यक्त किया और बताया कि मैंने अपने कुछ मित्रों से मुंबई में उनके द्वारा आयोजित कविता समारोह में न जाने के लिए कहा था।

2) फेसबुक (थोबड़ा–पुस्तक?) पर मौजूद होने के बावजूद मैं उससे दूर रहता हूं और कभी–कभी 'जग का मुजरा' के अंदाज में उसे देख लेता हूं। फेसबुक, ब्लॉग की बढ़ती हुई राजनीतिक भूमिका के

खिलाफ अमेरिकी व्यवस्था द्वारा समर्थित माध्यम बन चुका है, क्योंकि ब्लॉगों के कारण अमेरिकी सरकार को कई शर्मिंदगी उठानी पड़ी है। इसलिए मैं उदय प्रकाश की वह घृणा से बजबजाती अमानुषिक भाषा नहीं पढ़ पाया, जो इस टिप्पणी में उद्धृत है। मैं इस तरह की भाषा को– गांधीजी के शब्द उधार लूं तो– चिमटे से भी नहीं छूना चाहूंगा। यह जरूर साफ करना चाहता हूं कि उदय प्रकाश के विरुद्ध मैंने जीवन में कोई मोर्चेबंदी नहीं की।

उन्हें योगी आदित्यनाथ द्वारा सम्मानित किए जाने पर हुए विरोध का जो मसविदा मेरे पास आया उस पर मैंने हस्ताक्षर भर किए थे। इसके बाद जब एक लेखक के जन्मदिन की दावत में मैंने सहज ढंग से उनसे हाथ मिलाया तो उन्होंने तुरंत मुझे अपमानित करते हुए कहा कि मैं उनके विरुद्ध षड्यंत्र करना बंद कर दूं। इससे पहले जब एक क्रांतिकारी कवि–मित्र की एक निजी समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से कुछ मित्र लोग उदय के घर बातचीत करने गए तो वहां भी उन्होंने मौके के मुताबिक अपमानजनक वाक्य कहने से गुरेज नहीं किया और अंततः वह समस्या अनसुलझी रही। एक पहलू यह भी है कि कुछ वर्ष पहले उदय प्रकाश की कई कहानियों और मेरी करीब पंद्रह कविताओं का अनुवाद करने वाले एक अमेरिकी विद्वान रॉबर्ट हक्स्टहेड के साथ जब वे मिले तो उनका व्यवहार खूब दोस्ताना था और उन्होंने मुझे रॉबर्ट को हवाई अड्डे छोड़ने के लिए निमंत्रित किया। मुझे लगता है कि उदय उन लेखकों में हैं, जो अपनी आलोचना का जरा भी सामना नहीं कर पाते। मुझसे उनकी नाराजगी कई वर्ष पहले शुरू हो गई थी जब मैंने उन्हें कहा था कि आपको कॉमरेड गोरख पांडेय जैसे मासूम, वामपंथी सांस्कृतिक आंदोलन में अद्भुत योगदान करने वाले, लेकिन प्रायः सभी सुविधाओं से वंचित और संतापित कवि के जीवन पर 'रामसजीवन की प्रेमकथा' नामक कहानी नहीं लिखनी चाहिए थी। बहुत से लोग जानते हैं कि गोरख पांडेय को इस कहानी ने कितना विचलित किया था और अंततः उन्होंने एक कारुणिक ढंग से संसार से विदा ली।

यहां मैं यह अंतिम रूप से साफ कर देना चाहता हूं कि उदय प्रकाश की और मेरी राहें बिलकुल अलग हैं। हमारे अगर कहीं कुछ साहित्यिक स्वार्थ हों भी तो वे आपस में कहीं टकराते नहीं। मैं कहानियां नहीं लिखता और मेरी कविता चाहे जैसी हो, उनसे कतई अलग है। एक लेखक के रूप में मैं राजनीतिक और सांस्कृतिक सत्ताओं से एक निश्चित दूरी बनाए रखता हूं और सिर्फ अपने श्रम के बल पर अब तक चलता आया हूं। यहां तक कि मैं उत्तराखंड में अपने इलाके के सांसदों और विधायकों को भी नहीं जानता और स्वर्गीय सुदीप बनर्जी जैसे नेक, आदिवासियों के हितैषी और कैंसर से जूझते रहे कवि–अफसर को छोड़ कर किसी भी आला अफसर से मेरी गहरी मित्रता नहीं रही। साहित्य में जिनकी भी सत्ताएं चल रही हों, मैं उनसे बचता फिरता हूं।

3) एक बार 'जनसत्ता' में ही जब उदय प्रकाश ने रंगकर्मी हबीब तनवीर के बारे में कुछ भ्रामक जानकारियां दीं तो मैंने एक जागरूक बुद्धिजीवी के कर्तव्य के रूप में और निहायत शालीन भाषा में लिखा कि मध्यप्रदेश की भाजपा सरकार ने किस तरह इस महान कलाकार का जीना और काम करना दूभर किया। त्रिलोचन जी के बारे में भी उदय प्रकाश द्वारा प्रयुक्त 'वामपंथी संगठन से निकाले जाने, हिंदू तीर्थस्थल हरिद्वार भेज दिए जाने और अत्यंत विषम परिस्थितियों में मृत्यु होने' जैसे शब्द पूरी तरह गलत, दुर्भाग्यपूर्ण और संसार से विदा ले चुके उस बड़े कवि के लिए अपमानजनक हैं। त्रिलोचन जी हरिद्वार भगवद्भजन के लिए नहीं, बल्कि अपनी पुत्रवधू के घर रहने के लिए गए थे और इन पंक्तियों के लेखक सहित कई रचनाकारों ने उनसे कई बार देहरादून के कंबाइंड मेडिकल इंस्टीट्यूट में भेंट की थी, जहां उनका यथासंभव अच्छा इलाज हुआ और निधन के समय उनकी आयु 92 वर्ष थी।

4) मैंने अज्ञेय जन्मशती आयोजनों का बहिष्कार बिलकुल नहीं किया। सचाई यह है कि उन आयोजनों के सूत्रधारों ने मुझे निमंत्रित किया ही नहीं। संभव है, इसका कारण यह रहा हो कि मैंने अज्ञेय की काव्य सीमाओं पर एक आलेख में टिप्पणी की थी कि परवर्ती पीढ़ियों और खासकर हमारी पीढ़ी पर उनकी कविता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मैं अज्ञेय के ऐतिहासिक योगदान को स्वीकार करता हूं, लेकिन इसके लिए उनकी कविता का प्रशंसक होना जरूरी नहीं है। जहां तक मैं जानता हूं, उन आयोजनों में जन संस्कृति मंच के महासचिव और आज के एक प्रमुख आलोचक प्रणय कृष्ण को भी आमंत्रित नहीं किया गया, हालांकि उनका शोधकार्य अज्ञेय पर केंद्रित है। क्या अज्ञेय संबंधी आयोजनों में मेरे जैसे लोगों की अनुपस्थिति आयोजकों की लोकतांत्रिक आवाजाही वाली मनोवृत्ति पर कोई टिप्पणी है?

5) ओम थानवी ने लिखा है कि 'मंगलेश जी के विपरीत विचार–मंच पर चले जाने से उनके अचानक उदारचेता लोकतांत्रिक हो जाने का आभास होता है।' मैं पहले ही कह चुका हूं कि 'विपरीत विचार मंच' पर मेरे जाने का न कोई औचित्य था और न यह मेरे उदारचेता लोकतांत्रिक होने का प्रमाण है। उदारता और लोकतांत्रिकता के मुखौटे नहीं होते, बल्कि ये चीजें स्वभाव में बसी हुई होती हैं। इस लिहाज से मैं अपने को प्रसन्नता के साथ लोकतांत्रिक कहता हूं, जिसका एक प्रमाण विष्णु खरे ने ओम थानवी को लिखे गए अपने एक पत्र में दिया है कि 'सन 1984 में 'समाजवादी–लोहियावादी' विजयदेव नारायण साही की एक पुस्तक पर उनकी विस्तृत समीक्षा मंगलेश डबराल ने जनसत्ता में प्रकाशित की थी।' एक ताजा प्रमाण यह है कि मैं जिस पत्रिका में कार्यरत हूं, वहां ओम थानवी की पुस्तक 'मुअनजोदड़ो' की चर्चा दो बार प्रकाशित हुईः एक बार डॉ नामवर सिंह के 'सबद निरंतर' में और दूसरी बार सन 2011 में प्रकाशित पुस्तकों में से बीस पुस्तकों के चयन के रूप में। जाहिर है कि उदारचेता लोकतांत्रिक होने के प्रमाण कहीं ज्यादा पुराने हैं।

6) ओम थानवी ने साहित्य के स्तर पर आवाजाही के लिए जो तर्क दिए हैं, उन्हें शायद तथ्यों के आधार पर मंजूर या खारिज किया जा सके, लेकिन अब तक के तमाम अनुभव बताते हैं कि साहित्य का वामपंथ हमेशा साहित्य के दक्षिणपंथ की तुलना में ज्यादा उदार, ज्यादा लोकतांत्रिक, ज्यादा समावेशी और कम वैशिष्ट्यवादी रहा है। साहित्य में आवाजाही की उदारता के मुखौटे ज्यादा काम नहीं आते। ऐसे मुखौटों की जरूरत तभी होती है जब गठबंधन सरकारों की तरह साहित्य भी गठबंधन की एक सत्ता हो, जिसके अपने निहित स्वार्थ लेनदेन के कारोबार में लगे रहते हों। फिलहाल साहित्य गठबंधन सरकारों से मुक्त है, इसलिए विभिन्न मंचों पर बेधड़क आने–जाने की कुछ सीमाएं भी बनी रहेंगी।

(जनसत्ता, 13 मई, 2012)

3 यह पलटी क्यों?

— नवनीत

डबराल द्वारा प्रस्तुत की गई सफाई और उनके लम्बे आलेख का एक छोटा प्रत्युत्तर नवनीत ने दिया। इसमें उन तथ्यों को उजागर किया गया जिसे डबराल ने झुठलाने की कोशिश की। संवाद की परंपरा को अस्वस्थ मन से देखने के अमर्यादित प्रयास को यह लघु लेख उजागर करता है।

आदरणीय मंगलेश डबराल जी,

किसी कार्यक्रम में जाना या न जाना यह आपका अपना फैसला है। आप भारत नीति प्रतिष्ठान की समांतर सिनेमा विषय पर आयोजित गोष्ठी में अध्यक्ष के नाते आये थे। मैं भी श्रोताओं में था और कार्यक्रम के आयोजन से भी जुड़ा हुआ था। आपने जिस प्रकार माफीनामा दिया और कार्यक्रम में भाग लेने को एक चूक बाताया उसे देखकर मुझे आश्चर्य और दुःख दोनो हुआ। आपने कुछ ऐसी बाते कहीं जो तथ्यों से परे है।

– आपको मैंने ही प्रतिष्ठान का साहित्य भेंट किया, आपने उसे सहर्ष स्वीकार किया साथ ही आपने प्रतिष्ठान के कार्यों की प्रशंसा भी की।

– आपने अपने उद्बोधन में निदेशक का नाम बड़े सम्मान से लिया।

– प्रतिष्ठान द्वारा इस आयोजन की भी सराहना की।

– विषय पर खुली चर्चा हुई।

कार्यक्रम के दौरान क्या आपको कहीं लगा कि आप किसी प्रकार के दवाब में बोल रहे हैं? इसके बावजूद आपने प्रतिष्ठान को 'व्यावसायिक संस्था नहीं है', जो प्रमाण पत्र दिया वह आपकी इंटीग्रिटी पर सवाल खड़ा करता है। आप अपने बंधुओं से सीधे माफी मांग लेते तो कोई हर्ज नहीं था, परं माफी मांगने के क्रम मे आपने जो तर्क दिया वह आप जैसे श्रेष्ठ विद्वान के लिए उचित प्रतीत नहीं होता है। कार्यक्रम में आपका अभिनंदन हुआ, आपका परिचय दिया गया, जिसमें आपके योगदान और व्यक्तित्व की चर्चा की गई।

कार्यक्रम से पहले निदेशक के कमरे में अनेक लोगों के साथ आपने खुली चर्चा की। इस दौरान क्या आपको लगा कि आप पर विचारधारा थोपी जा रही है? आप कार्यक्रम के दौरान और बाद में भी पूर्ण संतुष्ट नजर आ रहे थे। कार्यक्रम के बाद आपने श्रोताओं के साथ खुली चर्चा भी की। आपने खुद सार्वजनिक रूप से कहा था कि आप प्रतिष्ठान को अपने संपादन में निकल रही पत्रिका 'दि पब्लिक एजेंडा' की मेलिंग सूची में शामिल करेंगे। साथ ही आपने इसकी प्रति भी संस्थान के मानद निदेशक प्रो. राकेश सिन्हा को दी थी। जब मैं आपको आपकी गाड़ी तक छोड़ने गया, उस दौरान भी आपने कार्यक्रम को सार्थक बताया था। कार्यक्रम में भाग लेने के बाद, मुझे जो लगता है, प्रतिष्ठान ने तो शुद्ध शैक्षणिक व व्यावसायिक दृष्टि में चर्चा का आयोजन किया था, पर आपने ट्रेड यूनियन के दवाब में अपना विवेक समर्पण कर दिया, जो आप जैसे महान साहित्यकार को शोभा नहीं देता।

(जनसत्ता, 13 मई, 2012)

4 मंगलेश! तुम्हारी 'चूक' पर मैं हैरान हूं

— आनंद स्वरूप वर्मा

ओम थानवी द्वारा जनसत्ता में मंगलेश डबराल को लेकर शुरू किए गए संवाद में जैसे–जैसे लोग जुड़ते गए और एक दूसरे पर अपनी भड़ास निकालते गए। पहले ओम थानवी ने उदय प्रकाश को भूमिका में रखकर डबराल को निशाना बनाया तो आनंद स्वरूप वर्मा ने ओम थानवी को निकृष्ट बना दिया। हालांकि वर्मा ने डबराल के इस कार्यक्रम में शिरकत करने में कोई गलती नहीं पाई। वर्मा ने गोष्ठी प्रसंग पर जितनी भी टिप्पणियां देखीं उन्हें सतही और व्यक्तिगत विद्वेष की भावना से लिखा गया बताया और कहा कि इस तरह की घटनाएं होती ही रहती हैं। जहां तक कि बात प्रतिष्ठान के निदेशक प्रो. राकेश सिन्हा, जो संघ के समर्थक हैं, के साथ मंच साझा करने की है तो उस मंच से अपनी बात कहने में मुझे कोई गुरेज या गलती नहीं लगती है। अलग–अलग विचारधाराओं में इस तरह का संवाद होता रहा है। वर्मा ने कहा कि मैं राम बहादुर राय जी से लगातार संवाद में रहा हूं। उन्होंने ओम थानवी पर निशाना साधते हुए कहा कि व्यक्तिगत आग्रह/दुराग्रह उनके दायित्व पर हमेशा हावी रहे हैं। उन्होंने डबराल के दिखावटी मासूमियत और थानवी के संपादकीय ईमानदारी पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए लिखा कि वैचारिक प्रतिबद्धता का निर्धारण इस तरह के सतही मानदंडों से नहीं किया जा सकता कि कौन कहां जा रहा है, किसे कहां जाना चाहिए और चर्चा किस विषय पर की जाए। यह वैचारिक अस्पृश्यता के अलावा और कुछ भी नहीं है।

हमारे प्रिय कवि मंगलेश जी जब भारत नीति प्रतिष्ठान के मंच पर राकेश सिन्हा के साथ पाए गए और उनकी तस्वीर सार्वजनिक होने के बाद जब विवाद पैदा हुआ, तो उन्होंने एक स्पष्टीकरण कुछ लोगों को मेल किया, जिसे ग्वालियर वाले अशोक कुमार पांडे ने फेसबुक पर लगाया था। उस स्पष्टीकरण की प्रतिक्रिया में वरिष्ठ पत्रकार और मंगलेश जी के बहुत करीबी आनंद स्वरूप वर्मा ने उन्हें एक चिट्ठी लिखी है। यह चिट्ठी वर्मा जी ने मंगलेश जी को कल भेजी थी और उनकी सहमति से मुझे भी भेजी।

*मंगलेश जी ने यही चिट्ठी अशोक कुमार पांडे को भेजी है जिसे वे फेसबुक पर कल लगा चुके हैं। यह चिट्ठी दो कारणों से अहम है। पहली वजह खुद वर्मा जी ने बताई है कि उदय प्रकाश वाले मामले में ओम थानवी ने अपने जनसत्ता के अनंतर में उनका नाम लेकर गलतबयानी की है (इसके अलावा भी कई अन्य मामलों में उन्होंने थानवी जी की बतौर संपादक 'निकृष्ट' भूमिका की बात बताई है)। दूसरे, वर्मा जी खुद आवाजाही के हक़ में हैं, लेकिन उनका परिप्रेक्ष्य ओम थानवी से बिल्कुल अलहदा है। प्रस्तुत है वर्मा जी का पूरा पत्र और नीचे मंगलेश जी का स्पष्टीकरण भी, जो उन्होंने कुछ लोगों को भेजा था।***

प्रिय मंगलेश,

'भारत नीति प्रतिष्ठान' नामक संस्था में समांतर सिनेमा पर तुम्हारे भाग लेने के संदर्भ में कुछ ब्लॉग्स और साइट्स पर टिप्पणियां तथा जनसत्ता में ओम थानवी का लंबा लेख पढ़कर मुझे हैरानी नहीं हुई। हैरानी इस बात पर हुई कि तुम्हें मित्रों को स्पष्टीकरण भेजने की जरूरत क्यों महसूस हुई। जिन टिप्पणियों और लेख का ऊपर मैंने जिक्र किया है उनमें से किसी को पढ़ने से यह नहीं पता चलता है कि उस गोष्ठी में तुमने कौन सी आपत्तिजनक बात कही थी– सारा मुद्दा इस पर केंद्रित है कि उस गोष्ठी में तुम गये क्यों जबकि वह एक दक्षिणपंथी संगठन द्वारा बुलाई गई थी। तुमने इसके जवाब में कहा है कि 'यह एक चूक थी'।

मैं नहीं समझता कि यह कोई चूक थी। अगर किसी के दक्षिणपंथी अथवा वामपंथी/प्रगतिशील होने का मापदंड गोष्ठियों में जाने को ही बना लिया जाय न कि उसके जीवन और कृतित्व को तो यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण होगा। वैचारिक प्रतिबद्धता का निर्धारण इस तरह के

बहरहाल मामला इतना ही नहीं है। हम वामपंथियों के अंदर जो संकीर्णता है वह इस हद तक हावी है कि अगर मैं किसी मंच पर (दक्षिणपंथियों की तो बात ही छोड़ दें), सीताराम येचुरी के साथ बैठा देखा जाऊं तो संशोधनवादी घोषित कर दिया जाऊंगा। हमें सांस्कृतिक/सामाजिक संगठनों और राजनीतिक पार्टियों में फर्क करना चाहिए। दो वर्ष पूर्व गाजियाबाद में आयोजित भगत सिंह की यादगार से संबंधित एक गोष्ठी में मंच पर जैसे ही मेरे बगल में डी.पी. यादव आकर बैठे, मैंने वाकआउट कर दिया। लेकिन वह एक कुख्यात माफिया का मामला था। मैं राकेश सिन्हा को नहीं जानता लेकिन अगर वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर्मथक हैं तो महज इस कारण हम उनके मंच से अपनी बात कहने में गुरेज करें– यह मुझे उचित नहीं लगता। क्या तुम्हें आमंत्रित करते समय राकेश सिन्हा को तुम्हारे विचारों की जानकारी नहीं थी?

*संपादकीय टिप्पणी, जनपथ डॉट कॉम

सतही मापदंडों से नहीं होता कि कौन कहां जा रहा है अथवा किससे मिल रहा है। उदय प्रकाश का मामला इससे थोड़ा भिन्न था क्योंकि उन्होंने उस व्यक्ति के हाथों पुरस्कार लिया जो घोर कम्युनिस्ट विरोधी और प्रतिगामी विचारों का घोषित तौर पर पोषक है। हालांकि इसे भी मुद्दा बनाने के पक्ष में मैं उस समय नहीं था। जिन दिनों हस्ताक्षर अभियान चल रहा था, मैंने यही कहा था कि एक बार उदय प्रकाश से पूछना चाहिए कि किन परिस्थितियों में ऐसा हुआ? कहीं अनजाने में तो उनसे यह चूक नहीं हो गयी?और इसी आधार पर मैंने उस प्रस्ताव पर हस्ताक्षर भी नहीं किया था हालांकि ओम थानवी ने हस्ताक्षरकर्ताओं में मेरा नाम भी अपने लेख में डाल रखा है। उदय प्रकाश की 'और अंत में प्रार्थना' शीर्षक कहानी ने मुझे बहुत प्रभावित किया था और उस कहानी का वैचारिक पक्ष इतना प्रबल था कि जब तक उदय प्रकाश किसी जघन्य अपराध में लिप्त नहीं पाये जाते, उनके और उनकी रचनाओं के प्रति मेरे आदर में कोई कमी नहीं आती। यही सोचकर मैंने हस्ताक्षर करने से मना किया था और आज भी मैं अपने उस निर्णय को सही मानता हूं।

तुम्हारे गोष्ठी प्रसंग पर जितनी टिप्पणियां देखने को मिली हैं वे बहुत सतही और व्यक्तिगत विद्वेष की भावना से लिखी गई हैं। तुम्हें याद होगा जब मैंने नेपाल पर आयोजित एक मीटिंग में विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं को आमंत्रित किया था तो हमलोगों के एक वामपंथी कवि मित्र ने मेरी इसलिए भर्त्सना की थी कि मेरे मंच पर डी.पी. त्रिपाठी कैसे मौजूद थे। उनकी निगाह में वह एक 'पतित राजनीतिज्ञ' हैं इसलिए उनको आमंत्रित कर मैंने अपनी पतनशीलता का परिचय दिया। मैंने उन्हें समझाना चाहा कि वह एक राष्ट्रीय पार्टी के महासचिव के नाते वहां मौजूद थे लेकिन कवि मित्र इससे संतुष्ट नहीं हुए। बहरहाल मामला इतना ही नहीं है। हम वामपंथियों के अंदर जो संकीर्णता है वह इस हद तक हावी है कि अगर मैं किसी मंच पर (दक्षिणपंथियों की तो बात ही छोड़ दें), सीताराम येचुरी के साथ बैठा देखा जाऊं तो संशोधनवादी घोषित कर दिया जाऊंगा। हमें सांस्कृतिक/सामाजिक संगठनों और राजनीतिक पार्टियों में फर्क करना चाहिए। दो वर्ष पूर्व गाजियाबाद में आयोजित भगत सिंह की यादगार से संबंधित एक गोष्ठी में मंच पर जैसे ही मेरे बगल में डी.पी. यादव आकर बैठे, मैंने वॉकआउट कर दिया। लेकिन वह एक कुख्यात माफिया का मामला था। मैं राकेश सिन्हा को नहीं जानता लेकिन अगर वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सर्मथक हैं तो महज इस कारण हम उनके मंच से अपनी बात कहने में गुरेज करें– यह मुझे उचित नहीं लगता। क्या तुम्हें आमंत्रित करते समय राकेश सिन्हा को तुम्हारे विचारों की जानकारी नहीं थी?तुम्हें अच्छी तरह पता है कि वर्षों से रामबहादुर राय जी के साथ मेरे अच्छे संबंध हैं और मैं उनकी पत्रिका में वही लिखता रहा हूं जो मैं चाहता हूं। रामबहादुर राय जब मुझसे मिलते हैं और राजनीतिक मुद्दों पर बातचीत होती है तो मैं उन्हें आरएसएस समर्थक और वह मुझे कम्युनिस्ट समर्थक समझकर ही बात करते हैं और कई बार अत्यंत शालीनता के साथ हमारी बहसें भी हो जाती हैं। इसलिए हमें कहां जाना है, कब जाना है, किसके साथ बैठना है, किसके साथ नहीं बैठना है– ये सारी बातें विषय और उस समय की घटनाओं से निर्देशित होनी चाहिए। इसके लिए कोई बना बनाया फार्मूला नहीं हो सकता।

जहां तक ओम थानवी का सवाल है, संपादक होने के वावजूद उनके व्यक्तिगत आग्रह/दुराग्रह उनके संपादकीय दायित्व पर हमेशा भारी पड़े। तुम उनके साथ काम कर चुके हो और मैं उनके संपादन में

नियमित तौर पर लिख चुका हूं। 1970 से दिल्ली के विभिन्न अखबारों में मैं फ्रीलांसिंग करता रहा हूं और रघुवीर सहाय से लेकर ओम थानवी तक अनेक संपादकों से मेरा साबका पड़ा। मेरा व्यक्तिगत अनुभव यही रहा कि संपादक के रूप में ओम थानवी अत्यंत अनैतिक और निकृष्ट हैं। नेपाल पर जब मैं लिखता था, उन्होंने बिना मुझसे पूछे हर जगह जनयुद्ध शब्द को इनवर्टेड कौमा के अंदर कर दिया और जब मैंने एक बार जानना चाहा कि ऐसा वह क्यों करते हैं तो उन्होंने कहा कि जनयुद्ध तो माओवादी मानते हैं, हम तो इसे तथाकथित जनयुद्ध ही कहेंगे। मैंने उन्हें समझाना चाहा कि यह लेख मेरा है, मेरे नाम से छप रहा है इसलिए मेरे ही विचारों को इसमें रहने दीजिए लेकिन उन पर इसका कोई असर नहीं हुआ। मैंने इसे मुद्दा न बना कर जनयुद्ध की बजाय सशस्त्र संघर्ष लिखना शुरू किया जो ओम थानवी के लिए ज्यादा आपत्तिजनक हो सकता था। लेकिन जिद पूरी होने की सनक से मस्त इस हठधर्मी संपादक का ध्यान इस पर नहीं गया और जनसत्ता से मेरा संबंध बना रहा। जब प्रधानमंत्री प्रचंड द्वारा कटवाल को बर्खास्त किये जाने के बाद मेरे लेख में उन्होंने काटछांट करना चाहा क्योंकि वे कटवाल की बर्खास्तगी के पक्ष में नहीं थे, तब मेरा संबंध समाप्त हुआ क्योंकि मैं इसकी इजाज़त नहीं दे सकता था। मैंने तय कर लिया कि अब ओम थानवी के संपादन में नहीं लिखूंगा। ऐसे बीसियों प्रसंग हैं जिनके आधार पर मैं उन्हें निकृष्ट कोटि का संपादक मानता हूं। अभी के लेख में भी उनकी तिलमिलाहट इस बात से है कि वामपंथियों ने उनके आराध्य अज्ञेय पर लगातार प्रहार किये थे। इस लेख के जरिए उन्होंने अपने भरसक वामपंथ को नीचा दिखाकर अपना हिसाब–किताब चुकता करने की कोशिश की। इस समय कुछ ब्लॉग्स भी ऐसे हैं जिन्हें देखकर लगता है कि बंदर के हाथ में उस्तरा पकड़ा दिया गया हो। बस, थानवी जैसे लेखक और उस्तरापकड़ू बंदरों वाले ब्लॉग्स में एक अच्छी दोस्ती कायम हो गयी है।

तुमने अपने स्पष्टीकरण में अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के प्रमाण के रूप में कुछ घटनाओं का जिक्र किया है जो मुझे अनावश्यक लगा। आशा है तुम इस तरह की आलोचनाओं से आहत हुए बगैर वह करते रहोगे जिसे ठीक समझोगे न कि वह जो दूसरों को खुश रख सके।

तुम्हारा–

आनंद स्वरूप वर्मा

(http://www.junputh.com/2012/05/blog-post.html)

5 यह छुआछूत उनकी ही देन है

— अवनिजेश अवस्थी

6 मई, 2012 को चंचल चौहान* ने सभी 'प्रगतिशील' लोगों के गोलबंद होने की बात कही। इसका जवाब देते हुए प्रो. अवनिजेश अवस्थी ने कहा कि यह वैचारिक अस्पृश्यता वामपंथ द्वारा भारतीय साहित्य को दिया गया उपहार है और ऐसी कट्टरता उन्होंने मध्यकालीन समाज से आयातित की है। अपना विचार श्रेष्ठ कहने और दूसरे का पतित कहने की परिणति छुआछूत तक पहुंच जाती है। वैचारिक छुआछूत व परस्पर आरोप–प्रत्यारोप द्वारा संवाद को समाप्त करने की पत्रकारिता को कहां से पालन–पोषण प्राप्त हुआ है और कौन–कौन साहित्यकार इस छुआछूत के शिकार हुए हैं। प्रस्तुत आलेख इस बात को रेखांकित करता है :–

ओम थानवी के 'अनन्तर' पर पता नहीं चंचल चौहान इतना क्यों भड़क गए। थानवी जी की टिप्पणी के केंद्रीय मंतव्य– ''क्या हम ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जिसमें उन्हीं के बीच संवाद हो जो हमारे मत के हों? विरोधी लोगों के बीच जाना और अपनी बात कहना क्यों आपत्तिजनक होना चाहिए? क्या अलग संगत में हमें अपनी विचारधारा के बदल जाने का भय है? क्या स्वस्थ संवाद में दोनों पक्षों का लाभ नहीं होता? यह बोध किस आधार पर कि हमारा विचार श्रेष्ठ है, दूसरे का इतना पतित कि लगभग अछूत है''– में चंचल जी ने वामपंथी लेखक संगठनों को बदनाम करने का छिपा एजेंडा भी खोज निकाला! यही नहीं, उत्तेजना में वे 'गोद में बैठने' के मुहावरे का व्यंग्यार्थ भी नहीं समझ पाए और सबूत के तौर पर फोटो ही नहीं, 'ग्रुप फोटो' तक की मांग कर बैठे।

यह ठीक है कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र 'सपाटबयानी' का राग अलापता है, लेकिन इतनी 'सपाट समझी' भी नहीं होनी चाहिए। ठीक है कि रूपवाद के विरोध में अभिधा के सौंदर्य का महत्त्व रूपायित भी किया गया, हालांकि मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों में अभिधा को (काव्य) दोष के रूप में दिखा कर उन्हें सिर्फ तुक का आग्रही तुक्कड़ कवि तक कहने की कोशिश की गई, लेकिन अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रश्न

---

* चंचल चौहान जनवादी लेखक संघ के पदाधिकारी हैं। उन्होंने इन सबके पीछे विदेशी पूंजी एवं साम्राज्यवादी साजिश का हाथ बताया। उन्होंने वही बात कही जिसे मार्क्सवादी 1930 से कहते आए हैं।

ऐसा भी क्या खड़ा करना कि आप शोधमयी पत्रकारिता से चश्मदीद गवाह होने की मांग करने लगें। यों अगर फिर भी चाहें तो सूचना के अधिकार के तहत आप खुद यह जानकारी हासिल कर सकते हैं कि 'सहमत' समेत किन–किन वामपंथी अनुष्ठानों या आयोजनों को अर्जुन सिंह के कार्यकाल में कितनी मदद और कितना अनुदान मिला, किन–किन घोषित, प्रतिबद्ध और कार्डधारियों को सरकारी संस्थानों में पद हासिल हुए, कौन–कौन सरकारी खर्चे पर विदेश यात्रा पर गए और कौन–कौन किस–किस समिति में नामित किए गए– वामपंथी संगठनों, जिसमें साहित्यिक संगठन भी शामिल हैं– का इस दृष्टि से इतिहास लिखा जाना काफी रोचक हो सकता है।

लेकिन थानवी जी का मूल मंतव्य यह था ही नहीं, तो इसका कच्चा–चिट्ठा खोलना सिर्फ मुद्दे से भटकना होगा। इसलिए बात इस पर करनी चाहिए कि आखिरकार न केवल अज्ञेय जन्मशती को न मनाए जाने का फतवा–सा जारी किया गया, बल्कि ऐसे समारोहों में किसी भी तरह की शिरकत न करने और समारोह स्थलों से 'विजिबल' दूरी बनाए रखने का निर्देश भी दिया गया। अज्ञेय तो यों कभी मार्क्सवादी नहीं रहे (प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में एकाध बार हिस्सा लेने के अलावा), लेकिन वामपंथी रचनाकारों– रामविलास शर्मा की मृत्यु के बाद इतिहास की शव साधना की जाती है, त्रिलोचन शास्त्री को हरिद्वार हांक दिया जाता है और पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस के लेखक निर्मल वर्मा को हिंदूवादी कह कर हिकारत भरी दृष्टि से देखा जाता है। ऐसे लेखकों की लंबी फेहरिस्त पेश की जा सकती है, जिसे उदय प्रकाश तक अद्यतन किया जा सकता है।

अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रश्न ऐसा भी क्या खड़ा करना कि आप शोधमयी पत्रकारिता से चश्मदीद गवाह होने की मांग करने लगें। यों अगर फिर भी चाहें तो सूचना के अधिकार के तहत आप खुद यह जानकारी हासिल कर सकते हैं कि 'सहमत' समेत किन–किन वामपंथी अनुष्ठानों या आयोजनों को अर्जुन सिंह के कार्यकाल में कितनी मदद और कितना अनुदान मिला, किन–किन घोषित, प्रतिबद्ध और कार्डधारियों को सरकारी संस्थानों में पद हासिल हुए, कौन–कौन सरकारी खर्चे पर विदेश यात्रा पर गए और कौन–कौन किस–किस समिति में नामित किए गए– वामपंथी संगठनों, जिसमें साहित्यिक संगठन भी शामिल हैं– का इस दृष्टि से इतिहास लिखा जाना काफी रोचक हो सकता है।

जनवादी लेखक संघ और अन्य समानधर्मी वामपंथी संगठनों की अभिव्यक्ति की आजादी और लेखकीय स्वतंत्रता के प्रति प्रतिबद्धता का चंचल जी दावा तो करते हैं– 'जनवादी लेखक संघ जम्हूरियत–पसंद संगठन होने की वजह से आलोचना पसंद करता है, आलोचनात्मक विवेक को बढ़ावा देता है', लेकिन जब वे आवेश में यह कहते हैं कि 'लेकिन आलोचना का आधार जरूर होना चाहिए। आजादी तो हम निराधार आलोचना को भी देते हैं' तो एक साथ दिए गए इन दो वक्तव्यों में 'विरोधाभास' अलंकार की छटा के

अलावा इनका क्या अर्थ लिया जाए, समझ से परे है। चंचल जी कहने के लिए बेशक कह लें और लिखने के लिए बेशक लिख भी दें कि हम आलोचना को स्थान देते हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि तमाम वामपंथी संगठन किसी बाहरी व्यक्ति की आलोचना तो क्या अपने सदस्य तक की आलोचना सहन नहीं कर पाते। रामविलास शर्मा के सचिव रहते और सचिव पद से हटने के समूचे विवाद का विवरण यहां नहीं दिया जा सकता, लेकिन उसे थोड़ा–सा भी याद कर लें तो बात अपने आप स्पष्ट हो जाएगी।

सच्चाई तो यह है कि यह विरोध भी पूरी तरह से सुविधाजनक तरीके से ताकतवर और निर्बल के बीच 'सेलेक्टेड' होता है। तरुण विजय और मृदुला सिन्हा की पुस्तकों का लोकार्पण नामवर सिंह करें तो कहीं कोई शोर नहीं, गोविंदाचार्य के साथ नामवर सिंह मंच पर हों तो कोई बात नहीं, लेकिन उदय प्रकाश आदित्यनाथ से पुरस्कार लें तो यह उनका 'गर्हित कर्म' है। शिवाजी पर लिखी पुस्तक पर प्रतिबंध लगे तो वक्तव्यों, विरोध सभाओं और हस्ताक्षर अभियानों की बाढ़–सी आ जाती है। लेकिन तसलीमा को कोलकाता से रातोंरात 'निर्वासित' कर दिया जाए तो एकदम चुप्पी। दिल्ली विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम से रामानुजन का पाठ समयावधि पूरी हो जाने के कारण बदल दिया जाए तो अकादमिक आजादी खतरे में पड़ जाती है। लेकिन केरल में एक कॉलेज प्रोफेसर के हाथ सरेआम इसलिए काट दिए जाएं कि उसने एक सवाल में 'मोहम्मद' शब्द का प्रयोग कर लिया था, तो मशाल जुलूस तो क्या मोमबत्तियां तक कहीं नहीं जलतीं।

चंचल जी, 'जनवादी लेखक संघ' का नाम भर आ जाने से अपने संघ की रक्षा करना पर्याप्त नहीं होगा– व्यापक स्तर पर जो साहित्यिक छुआछूत फैली हुई है, उस पर भी विचार कीजिए।

(जनसत्ता, 20 मई, 2012)

6 न प्रगति न जनवाद, निपट अवसरवाद

— के. विक्रम राव

के. विक्रम राव ने प्रगतिवाद, जनवाद को अवसरवाद बताते हुए उनके क्रियाकलाप, व्यवहार, बौद्धिकता और बौद्धिक चरित्र पर कई प्रश्नचिन्ह लगाए। राव ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि अगर वैचारिक प्रवाह की आवाजाही निर्बाध है तो वह बौद्धिक विकास करेगी अन्यथा मौकापरस्ती मात्र होगी। उन्होंने इस विषय पर आक्रामक रुख अपनाते हुए कहा कि जनवादी चोला पहनकर सोवियत लैंड पुरस्कार और लेनिन पुरस्कार पाने वाले ये लोग भारतीय साहित्य जगत में गुटबाजी और लामबंदी को बढ़ावा देकर साहित्य और समाज को क्षति पहुंचा रहे हैं। ये लोग उसी सिद्धांत के अनुयायी हैं, जो कहता है कि "मेरे साथ हो या तुम मेरे खिलाफ हो।" ये प्रगतिशील और जनवादी लोग गिरोहबद्ध होकर काम करते हैं। इन्होंने राष्ट्रीय प्रतीकों, विरासत और इतिहास को विकृत किया है जिसके कारण अगली पीढ़ी को अपनी अस्मिता और पहचान के लिए संघर्षरत होना पड़ा। इन्हीं लोगों ने महात्मा गांधी को अपमानित किया, नेहरू को अपशब्द कहे। इंदिरा गांधी द्वारा आपातकाल के दौरान बाबा नागार्जुन को जेल में ठूसे जाने पर कम्युनिस्ट पार्टी का पिछलग्गू लेखक संघ आपातकाल का समर्थन करता रहा जिसके बदले कुछ रूबल का शिकार करता रहा तथा शासन द्वारा पुरस्कार प्राप्त करता रहा।

वैचारिक आवाजाही निर्मल–प्रवाह जैसी हो तो बौद्धिक विकास ही कहलाएगी। वरना सोच में कोई भी बदलाव अमूमन मौकापरस्ती का पर्याय बन जाता है। आज के कथित प्रगतिवादी इसी दोयम दर्जे में आते हैं। वे सब आत्ममुग्ध होकर भूल जाते हैं कि हर परिवर्तन प्रगति नहीं होता, हालांकि हर प्रगति परिवर्तन होती है। इन प्रगतिवादियों को सोवियत संघ की मृत्यु के बाद स्वयं गुम हो जाना चाहिए था। भारतीय समाज के साथ दशकों तक धोखाधड़ी करने के प्रायश्चित के तौर पर ही सही, जनवाद का चोला पहनने वालों को इतिहास के नेपथ्य में चला जाना चाहिए था। सोवियत लैंड और लेनिन पुरस्कार के रूप में

वजीफा पाने वालों ने भारतीय साहित्य जगत में गुटबाजी और लामबंदी को पनपाया। वही बात जो जॉन फास्टर डल्लेस ने अमेरिका में और लेवरेंटी बेरिया ने सोवियत रूस में बेशर्मी और अमानवीय ढंग से बढ़ाई। दोनों का सूत्र था– 'मेरे साथ हो या तुम मेरे शत्रु हो। तीसरा विकल्प नहीं है।' बुद्ध का मध्यमार्ग निरर्थक था। इसीलिए प्रगतिशील और जनवादी किसी गिरोह की मानिंद निखालिस अवसरवादिता की पूंजीभूत अभिव्यक्ति बन गए। उनको गंगा से वोल्गा ज्यादा मीठी लगने लगी।

भारतीय मनीषा, साहित्य और लोकमानस से कैसी–कैसी जोर–जबरदस्ती इन तथाकथित प्रगतिवादियों ने पिछली सदी में नहीं की? राष्ट्रीय प्रतीकों, विरासत और इतिहास को जानबूझ कर इतना विकृत कर दिया कि पूरी एक पीढ़ी अस्मिता के संकट से जूझती रही। राष्ट्रपिता का मखौल उड़ा कर उन्हें सामंतों का दलाल कहना या घोर वामपंथी जवाहरलाल नेहरू का कार्टून बना कर अमेरिकी साम्राज्यवाद का श्वान कहना, कोई कैसे बिसरा सकता है? बाबा नागार्जुन ने इन प्रगतिशीलों को चेतावनी भी दी थी कि भारतीय इतिहास और धरोहर से नाता नहीं जोड़ोगे तो देश की धरती से कट जाओगे। इन्हीं नागार्जुन को जब इंदिरा गांधी ने जेल में ठूंस दिया तब भी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और उसका पिछलग्गू लेखक संघ इमरजेंसी के आततायी राज का समर्थन करता रहा। पहली बार इतिहास में लेखकों और कवियों को लेखकों के संगठन ने ही बिकाऊ बना दिया, चंद रूबल्स की खातिर।

भारतीय मनीषा, साहित्य और लोकमानस से कैसी–कैसी जोर–जबरदस्ती इन कथित प्रगतिवादियों ने पिछली सदी में नहीं की? राष्ट्रीय प्रतीकों, विरासत और इतिहास को जानबूझ कर इतना विकृत कर दिया कि पूरी एक पीढ़ी अस्मिता के संकट से जूझती रही।..... बाबा नागार्जुन ने इन प्रगतिशीलों को चेतावनी भी दी थी कि भारतीय इतिहास और धरोहर से नाता नहीं जोड़ोगे तो देश की धरती से कट जाओगे। इन्हीं नागार्जुन को जब इंदिरा गांधी ने जेल में ठूंस दिया तब भी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और उसका पिछलग्गू लेखक संघ इमरजेंसी के आततायी राज का समर्थन करता रहा। पहली बार इतिहास में लेखकों और कवियों को लेखकों के संगठन ने ही बिकाऊ बना दिया, चंद रूबल्स की खातिर।

पत्रकार–कवि मंगलेश डबराल चर्चा में हैं। वे हमारी श्रमजीवी पत्रकार यूनियन के सदस्य थे। मंगलेश को दोषी करार देना उचित नहीं होगा। उनका मकसद हमेशा शुभ–लाभ पाने वाला रहा। जिससे मुफीद मदद मिली, उसी के हो लिए। वे ऑस्कर वाइल्ड के वैचारिक साथी लगते हैं। वाइल्ड ने कहा था– 'मैं हर बात का निग्रह कर सकता हूं, सिवाय लालसा के।' मंगलेश जानते तो होंगे कि वैचारिक दृढ़ता के लिए सैद्धांतिक स्थिरता आवश्यक होती है।

आई बात विष्णु खरे की। उन्होंने पत्र लिखा था टाइम्स ऑफ इंडिया के मालिकों को कि अगर वेतन बोर्ड द्वारा प्रस्तावित तनख्वाह दे दी तो अखबार बंद हो जाएंगे। तब वे लखनऊ में नवभारत टाइम्स के स्थानीय संपादक थे। संपादकीय विभाग के सारे पत्रकारों ने लिखित ज्ञापन देकर उनका विरोध किया था। मुझसे तो विष्णु खरे खार खाते थे, क्योंकि मेरे नाम से प्रबंधन को सांप सूंघ जाता था। आखिर उनके जैसा विचारवान, प्रगतिवादी मुझ श्रमजीवी का कुसंग क्यों करता? मोटी तनख्वाह मिल रही थी। विष्णु जी त्यागी नहीं हैं, खरे हैं, जिसका एक शब्दकोषीय अर्थ होता है, 'करारा' और दूसरा है 'नकद'।

विद्यानिवास मिश्र संपादक हुए तो उन्हें औकात दिखा दी। तबसे विद्वान, भाषाविद और शैलीविज्ञान के पंडित विद्यानिवास, विष्णु खरे के लिए 'विद्याविनाश' हो गए– वे उन्हें इस नाम से पुकार कर खुश हो लेते हैं।

इंटरनेट पर अपने आलोचकों की 'जहालत की ऊंचाइयां–नीचाइयां' देखने वाले विष्णु खरे उन कवि और लेखकों से कैसे दूर हैं जो सुविधापसंद खोल में सिमटते जा रहे हैं। क्या विडंबना है कि प्रगतिवादिता का कॉलर लगाए विष्णु खरे की उन्हीं प्रगतिवादियों ने बखिया उधेड़नी शुरू की तो तिलमिला गए।

ओम थानवी ने ठीक ही सुझाया है कि 'असहिष्णुता की काट के लिए एक उदार और सहिष्णु रवैया असरदार होगा'। इस सोच को कवि राबर्ट ब्राउनिंग की उक्ति के आलोक में परखें। आंग्ल कवि ने कहा था, 'कुछ लोग आस्था संजोते हैं और उसके प्रतिकूल कुछ भी गंवारा नहीं कर पाते। दूसरे वे लोग हैं जो हर बात को सहते हैं, क्योंकि उनकी कोई भी आस्था नहीं होती।' मान भी लें कि सहिष्णुता में गुण नहीं होता, मगर असहिष्णुता तो अपराधी वृत्ति है। ये कथित प्रगतिवादी, जनवादी, अंध–मार्क्सवादी असहिष्णु हैं। बेचारे उदय प्रकाश इसी दुर्भावना के शिकार हो गए। गोरखपुरवासी महंत आदित्यनाथ के हाथों के स्पर्शमात्र से वे प्रतिगामी हिंदुवादी करार दे दिए गए। तो फिर स्टालिनवादी रूस के नायकों के करकमलों से सोवियत पुरस्कार पाने वाले भारत के प्रगतिशील लेखक संघ वाले पाक–साफ देशभक्त कैसे कहलाएंगे?

मुझे जानकारी है कि इमरजेंसी में इसी प्रलेस के वरिष्ठ नेताओं ने इंदिरा गांधी की तानाशाही का प्रतिरोध करने वालों के ठिकानों की सूचना नजदीकी थानों में पहुंचाई थी। तब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव श्रीपाद अमृत डांगे का सभी विचारशील नागरिकों को फतवा दिया था कि लोकनायक जयप्रकाश नारायण की क्रांति को कुचलने के लिए पुलिस की मदद करें। कुछ पुनरावृत्ति थी 1942 की, जब ब्रिटिश साम्राज्यवादी विश्वयुद्ध रातोंरात ''जनयुद्ध'' बन गया था और नेताजी सुभाषचंद्र बोस हिटलर के कुत्ते कहे गए थे। तिहाड़ जेल में नजरबंद हम लोग तब ज्यादा आजाद थे, बजाय भारतीय आम जन के, जो तानाशाही के बूट तले कराह रहा था और ये बुद्धिजीवी सिंहासन से बंधे थे। मैंने तब हमारे (टाइम्स ऑफ इंडिया) संस्थान की एक पत्रिका के संपादक (कमलेश्वर) से पूछा था कि जनवादी, प्रगतिवादी लोग संघर्ष कर जेल क्यों नहीं जा रहे हैं? पर कमलेश्वर की हमदर्दी सत्तापक्ष के साथ थी। इस निष्ठा का प्रमाण भी मिला, जब उन्हें इंदिरा गांधी ने दूरदर्शन का अतिरिक्त महानिदेशक नामित किया।

उदय प्रकाश के मसले पर फिर गौर कर लें। महंत आदित्यनाथ का सोच और चरित्र न तो प्रछन्न है और न भ्रामक। वे निखालिस हिंदूवादी हैं, जो मानते हैं कि नेपाल–भारत सीमा पर मस्जिदों का निर्माण कर पाकिस्तानी आइएसआइ पूर्वांचल में चीन की मदद कर रहा है। योगी मुस्लिम विरोधी हैं, पर भारत–द्रोही नहीं हैं। क्या प्रगतिवादी सीना ठोंक कर कह सकते हैं कि वे हमेशा भारत हितकारी भावना संजोते रहे हैं? तो फिर बेचारी तसलीमा नसरीन पर कट्टरवादियों के हमले पर साजिशभरी खामोशी क्यों बनाए रहे?सलमान रुश्दी के वाणी स्वातंत्र्य के पक्षधर क्यों नहीं बने? देवबंद में कुलपति बस्तानवी सुधार लाना चाहते थे। धार्मिक सहिष्णुता के ये जेहादी इन सुधारवादी के साथ क्यों उठ नहीं खड़े हुए? फतवा आया था कि मुस्लिम महिलाओं को ब्यूटी पार्लर नहीं जाना चाहिए। ई–मेल पर तलाक देना वाजिब है। इसका विरोध न करने वाले ये साहित्यकार किस तरह प्रगतिवादी हो गए? पाकिस्तान में अल्पसंख्यक युवतियों का जबरन निकाह हो रहा है। ये प्रगतिवादी साहित्यकार जो भारत के अल्पसंख्यकों के अलमबरदार हैं, उन्होंने क्यों सभा, रैली तो दूर, कोई बयान तक नहीं दिया? अल्पसंख्यक जिस देश में भी हो, क्या रक्षा का पात्र नहीं है?

इस जमीनी सच्चाई को स्वीकारना, दुहराना चाहिए कि भारतीय बहुसंख्यक सहिष्णु हैं। ऐसा न होता तो बजरंग दल का बहुमत संसद में होता। गांधीजी कहते थे, प्रतिरोध की हिम्मत को मजबूत करना चाहिए। यह हिम्मत हृदय से उपजती है। संख्या बल से नहीं। प्रगतिशीलों को हिम्मत जुटानी चाहिए। हो सके तो दिमागी ईमानदारी को भी संवारना चाहिए।

(जनसत्ता, 13 मई, 2012)

7 ‘कि हम आदमी नहीं हो सके’

– अपूर्व जोशी

वैचारिक अस्पृश्यता पर छिड़ी बहस और वामपंथियों द्वारा इस मसले पर दिखाई गई बौद्धिक संकीर्णता को अपूर्व जोशी ने ‘आतंकवाद’ करार दिया है। जोशी का मानना है कि गोलबंदी के इस दौर में अपने विचारों को मजबूती के साथ रखने के जोरदार प्रयास में विरोधी विचारों का सम्मान नदारद हो गया है। उन्होंने डबराल के भारत नीति प्रतिष्ठान जाने के प्रकरण पर मचे घमासान को व्यक्तिगत कटुता और असहनशीलता की परिणति बताई और इसे डबराल की ही करनी का फल बताया।

29 अप्रैल को ‘जनसत्ता’ में ओम थानवी का लेख ‘आवाजाही के हक में’ और उसके बाद ‘जनसत्ता’ के लगभग सभी रविवारीय अंकों में इस लेख पर छिड़ी बहस पढ़ने के बाद यह बात साफतौर पर स्थापित होती है कि हिन्दी के लुट–पिट जाने के पीछे ऐसे ही सोच लिए ‘पेटी बुर्जुवा बुद्धिवादियों’ का हाथ है। अल्बेयर कामू ने ऐसों के लिए ही तो कहा था कि ‘हम उस अंधेरे जगत में निवास करते हैं जो हमारी ही करनी का फल है। यदि हम स्वयं को जानना चाहते हैं तो अपनी असफलताओं से जाने। हमारी सबसे बड़ी असफलता तो यह है कि हम आदमी नहीं हो सके।’

मंगलेश डबराल भारत नीति प्रतिष्ठान द्वारा आयोजित एक समारोह में बतौर अध्यक्ष शामिल हुए। सभी जानते हैं कि संस्थान का जुड़ाव राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से है। इसके निदेशक राकेश सिन्हा डॉ. हेडगेवार के जीवनीकार हैं और भाजपा तथा संघ के करीबी भी। डबराल की एक तस्वीर राकेश सिन्हा ने अपने फेसबुक के पन्ने पर डाल दी जिसके बाद मानों भूकंप ही आ गया। तमाम प्रकार की टिप्पणी मंगलेश डबराल पर की जाने लगी। उन्हें ‘बौद्धिक गिरगिट से लेकर ‘कूढ़मगज’ और ‘बूड़मगज’ तक कहा जा रहा है। 2009 में योगी आदित्यनाथ के हाथों पुरस्कार लेने की ‘भूल’ करने वाले उदय प्रकाश को मंगलेश डबराल ने तब बकायदा मोर्चाबंदी कर गरियाया था। अब इन्हीं मंगलेश की इस ‘चूक’ का भला उदय प्रकाश क्यों नहीं लाभ उठाते। तो उन्होंने बेहद तल्ख शब्दों में अपने साथ हुए दुर्व्यवहार/अपमान का बदला लिया है। डबराल को ‘दैत्यों’, ‘सत्ता के तिकड़मबाज’ और ‘मनोरोगियों’ की श्रेणी में रख उदयप्रकाश ने भले ही अपनी भड़ास उगली हो लेकिन मुझे तो उनके कथन ने कामू के नाटक ‘कैलिगुल्ला’ की स्त्री पात्र ‘सीजोनिया’ का स्मरण करा दिया जो कहती है–‘तुम किसकी सेवा कर रहे हो?

अफसोस कि गोलबंदी के दौर में यही गुण हिन्दी साहित्य जगत से नदारत है। मंगलेश डबराल पर हो रहे हमलों का असल कारण भी यही है। मंगलेश दरअसल स्वयं को चाहे कितना ही लोकतांत्रिक कहे–समझें और भारत नीति प्रतिष्ठान के कर्ायक्रम में जाने को अपनी चूक माने, मैं समझता हूँ जो उन्होंने बोया, आज उसकी फसल काटना ही उनकी विवशता है। 2009 में 'पाखी' ने उनका विशेषांक निकालने की योजना बनाई गई थी। तब इस पत्रिका का संपादन मैं कर रहा था। हमारे प्रयास को जिस प्रकार से स्वयं मंगलेश जी ने पतीला लगाया उसे मैंने तो उनकी संकीर्ण सोच मान भुला दिया।

मुझे कहने दो कि मैं तुम्हारे बारे में क्या सोचती हूँ? तुम तो मूल्यों के ठेकेदार हो, तुम्हारी आँखों में अमानवीयता है और तुम्हारे शरीर से अजीब सतही गंध आती है।'

दरअसल जैसा प्रदीप पंत, आनंद स्वरूप वर्मा और तेजेन्द्र शर्मा ने 'जनसत्ता' में ही इस मुद्दे पर लिखा, मामला विचारधारा के संकीर्ण घेरे में कैद हिन्दी साहित्य संसार में खुलेपन के अभाव का है। अजब सोच है जो आप को अपने विरोधियों के साथ वैचारिक आदान–प्रदान, वाद–विवाद करने तक पर रोक लगाती है और आपके समग्र काम का मूल्यांकन केवल इसी आधार पर नहीं करती कि आप हमारे विचारों के नहीं है। बचपन में जब साहित्य की दुनिया की गंदगी से हम महफूज थे तब इन लेखकों और कवियों को कितना आदर देते थे। तब निकोलाई अस्त्राोवस्की, प्रेमचंद, इलाचंद्र जोशी, लियो टाल्सटॉय से लेकर नरेन्द्र कोहली और रमेशचन्द्र शाह, पाश, सर्वेश्वर, दिनकर से लेकर बच्चन तक सभी को पढ़ अपनी समझ विकसित करते थे। इस अंधकार का तब कहां इल्म था। यहाँ की राजनीति तो 'पाखी' के साथ समझ और पकड़ में आई। समझ में आया कि कैसे बौद्धिक संकीर्णता के आतंक तले कई शैलेश मटियानी, बच्चन, त्रिलोचन, नीरज, दिनकर, नरेन्द्र कोहली, रमेशचन्द्र शाह आदि हाशिए में डाल दिए जाते हैं।

जिसे मंगलेश डबराल 'वह एक चूक थी' कह रहे हैं वह दरअसल में कहीं से भी न तो भूल थी और न ही चूक। अपने विचारों में दृढ़ रहते हुए विरोधी के विचारों का सम्मान करना, उससे असहमति करना और अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता बनाए रखना हमारे आदमी होने की पहचान है। अफसोस कि गोलबंदी के दौर में यही गुण हिन्दी साहित्य जगत से नदारद है। मंगलेश डबराल पर हो रहे हमलों का असल कारण भी यही है। मंगलेश दरअसल स्वयं को चाहे कितना ही लोकतांत्रिक कहे–समझें और भारत नीति प्रतिष्ठान के कार्यक्रम में जाने को अपनी चूक माने, मैं समझता हूँ जो उन्होंने बोया आज उसकी फसल काटना ही उनकी विवशता है। 2009 में 'पाखी' ने उनका विशेषांक निकालने की योजना बनाई गई थी। तब इस पत्रिका का संपादन मैं कर रहा था। हमारे प्रयास को जिस प्रकार से स्वयं मंगलेश जी ने पलीता लगाया उसे मैंने तो उनकी संकीर्ण सोच मान भुला दिया। लेकिन उदय प्रकाश उनके हाथों हुए अपने अपमान को नहीं भुला सके। जिस प्रकार की उन्होंने फेसबुक में मंगलेश के खिलाफ की हैं, वह एक बार फिर वामपंथी

साहित्य के पुरोधाओं की समझ पर प्रश्न चिन्ह लगाने का काम करती है। योगी आदित्यनाथ की सभा में बैठने भर से आपको कठघरे में खड़ा कर प्रताड़ित करने वाले आपके संगी–साथियों का व्यवहार आप आज तक नहीं भूले लेकिन जब डबराल से ऐसी 'चूक' हो गई तब आपने भी वही सब करना शुरू कर दिया जिसके शिकार स्वयं आप बने थे। जाहिर है इसके पीछे भी वही सकीर्ण सोच काम कर रही है जिसके चलते यहाँ विचारों की आवाजाही पर प्रतिबंध सा है।

बहरहाल जहाँ तक प्रश्न मंगलेश डबराल का है तो दो बातें कहना चाहूंगा। पहली बार उन पर लग रहे आरोपों की है जो मैं समझता हूँ ब्लॉग में 'कूड़ा–करकट' फैलाने वालों की उस कुत्सित सोच को सामने लाती है जिन्होंने न तो ठीक से डबराल को पढ़ा है न ही जिन्हें उनके कृतित्व का मूल्यांकन करने की समझ है। ऐसों की टिप्पणियों से आहत नहीं हुआ जाता मंगलेश जी बल्कि उनकी न समझी पर तरस खा माफ कर दिया जाता है। हाँ, जहाँ तक आपकी गलती और तत्पश्चात स्वीकारोक्ति 'वह एक चूक थी' का सवाल है तो मैं समझता हूँ जिस प्रकार आपने अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है उससे तो यही लगता है कि कहीं भीतर आप पर अपराध बोध हावी है। यह अपराधबोध आपकी कविताओं में भी झलकता है और आपके स्पष्टीकरण में भी।

एक पुरानी अंग्रेजी की कहावत है 'This world is an echo, every thing comes back, all good all bad, so give the world the best you can, the best will come back to you' यह स्थापित सत्य है। जो जैसा बोएगा वैसा ही काटेगा। वैसे विचारधाराओं की गोलबंदी के इस खेल में कभी–कभी लगता है कि अपनी 'पाखी' भी तो नहीं फंस कर रह गई। 'सृजन की उड़ान' यूं तो निर्बाध जारी है लेकिन प्रेम भारद्वाज भी कहीं न कहीं ऐसी ही गोलबंदी का शिकार तो नहीं हो रहे? यह तय तो पाठकों को करना है, मेरी तो यह आशंका मात्र है, शायद गलत या शायद सही?

(पाखी पत्रिका में छपे लेख का अंश)

8

वैचारिक अस्पृश्यता घातक

— **नरेश भारतीय**

इस पूरी बहस और तू–तू मैं–मैं पर टिप्पणी करते हुए ब्रिटेन में बसे भारतीय मूल के हिन्दी लेखक नरेश भारतीय ने इसे वामपंथियों की घोर संकीर्णता और उनकी निष्प्राण होती भूमिका का परिचायक कहा। उन्होंने कहा कि मतभिन्नता वैचारिक विमर्श एवं लोकतंत्र का आधार है जिसमें सभी विचारों के लोगों का समावेश होना चाहिए। डबराल के भारत नीति प्रतिष्ठान जाने पर वामपंथी साहित्य जगत में मची खलबली उनके वैचारिक संकीर्णता एवं अस्पृश्यता का परिचायक है।

श्री मंगलेश डबराल प्रसंग में जो कुछ हुआ अत्यंत शोचनीय है। सोचने का विषय यह है कि वामपंथी कवि एवं पत्रकार श्री डबराल का दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री राकेश सिन्हा के निमंत्रण पर एक संगोष्ठी की अध्यक्षता करने जाना उनके वामपंथी सहयोगियों और मित्रों की दृष्टि में अपराध क्यों था? क्या इसलिए क्योंकि श्री सिन्हा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवार के जीवनीकार हैं? यदि सच यही है तो यह न सिर्फ वामपंथियों की घोर संकीर्णता है बल्कि इससे यह आभास भी मिलता है कि देश में वामपंथ की निष्प्रभ होती भूमिका की स्थिति में यह उसके द्वारा अपनी संभ्रमित वैचारिक किलेबंदी को सुरक्षित करने की एक चेष्टा है?

लोकतंत्र में मतभिन्नता वस्तुतः वैचारिक विमर्श का आधार होता है और उसके लिए एक मंच पर मिल बैठना और मत विवेचन करना एक उत्तम साधन, वैदिक काल में प्रचलित 'शास्त्रार्थ' प्रथा का ही यह वर्तमान स्वरूप है। राजा जनक के शासन काल में 'गार्गी और याज्ञवल्क्य' दो भिन्न मत विद्वानों के बीच किसी महत्वपूर्ण विषय पर आयोजित परस्पर बहस से किसी निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रसंग मिलता है। अपने समाज में सदियों से चली आ रही इस स्वस्थ परम्परा का यह अनेक में से एक प्रमाण है। इस प्राचीन परम्परा और वर्तमान लोकतंत्रीय परिवेश में, भारत नीति प्रतिष्ठान के निदेशक प्रोफेसर सिन्हा के द्वारा स्वयं एक राष्ट्रवादी विचारदृष्टि का होते हुए कवि पत्रकार श्री डबराल को एक संगोष्ठी की अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित करना उनकी उदारता एवं निष्पक्षता के कारण

स्तुत्य है. इसके विपरीत, श्री डबराल की संगोष्ठी में उपस्थिति का उनके वामपंथी संगठन सहयोगियों को खल जाना और उस पर उनकी तीव्र प्रतिक्रिया निश्चय ही उनकी वैचारिक संकीर्णता और अस्पृश्यता का परिचय देता है। श्री डबराल उनके दबाव में झुक गए और उन्होंने अपनी इस चूक के लिए उनसे क्षमा माँगी यह शोचनीय स्थिति दर्शाता है। लोकतंत्रीय परिवेश में ऐसी प्रवृत्ति का पनपना सुखद सन्देश नहीं है।

(http://www.pravakta.com/ideological-untouchability-fatal/)

9 बौद्धिक विमर्श में वैचारिक बहुलता जरूरी

– राकेश सिन्हा

जनसत्ता ने अपने चार रविवारीय अंकों में वैचारिक एवं बौद्धिक संवाद पर बहस चलाया। कई न्यूनताओं के बावजूद यह एक सराहनीय एवं अभिनंदनीय सम्पादकीय परियोजन है। इसने संवाद के प्रति सदिच्छा एवं काल्पनिक व कालबाह्य प्रवृत्तियों को सार्वजनिक बहस में लाने का काम किया है। बहस का कारण मंगलेश डबराल का भारत नीति प्रतिष्ठान आना निमित मात्र है। बहस थानवी जी के हस्तक्षेप आलेख 'आवाजाही के हक़ में' (जनसत्ता, 29 अप्रैल, 2012) से शुरू हुआ। लेकिन तीन वेब पत्रिकाओं (मोहल्ला, जनपथ और जानकीपुल) और फेसबुक पर इस लेख के छपने के दो हफ्ते पहले से चर्चा हो रही थी। इसी प्रसंग में उठे सवालों पर भारत नीति प्रतिष्ठान के निदेशक प्रो. राकेश सिन्हा ने समग्रता में अपनी बात रखते हुए इस बहस को तार्किक परिणति दी।

"पिछले डेढ़ महीने से आवाजाही पर जो बहस चल रही थी, उसमें वाम दायरे के बाहर से पहला संगठित और सक्रिय हस्तक्षेप आया है। मंगलेश डबराल जिस संस्थान के मंच पर बोलने गए थे, उस इंडिया पॉलिसी फाउंडेशन के निदेशक और हेडगेवार के जीवनीकार प्रो. राकेश सिन्हा ने बड़े सिलसिलेवार ढंग से अपने ब्लॉग और फेसबुक पर एक आलेख प्रकाशित किया है। जनपथ पर वहां से साभार लेकर चिपकाया जा रहा है। यह लेख बहुत महत्वपूर्ण है और निश्चित तौर पर एक गंभीर बहस की मांग करता है। कम्युनिस्ट पार्टियों के भीतर आवाजाही से संबंधित जिन ऐतिहासिक संदर्भों को प्रो. राकेश सिन्हा ने उठाया है, वे बेहद मौजूं हैं। अब तक जितने भी आलेख विभिन्न वेब पत्रिकाओं और जनसत्ता में छपे हैं, उनमें कहीं भी इस विषय को उसकी ऐतिहासिकता में नहीं देखा गया, न ही किसी ने ऐसी कोशिश की। पूरी बहस को व्यक्तिगत बना कर हिसाब चुकता करने की जो कोशिशें जनसत्ता में हुई हैं, यह आलेख उसी प्रक्रिया की परिणति है। आप लाख गाली देते रहें संघ को, लेकिन वामपंथी संकीर्णता के बारे में इतने सघन विश्लेषण और विवेकपूर्ण आलोचना की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। एक मायने में यह आलेख हिंदी जगत के निंदा प्रेमी वामपंथियों को आईना दिखा रहा है। क्या किसी के पास प्रो. सिन्हा की चिंताओं–आलोचनाओं का जवाब है?" *

*संपादकीय टिप्पणी, जनपथ डॉट कॉम

बात भारत नीति प्रतिष्ठान की एक गोष्ठी (14 अप्रैल, 2012) से शुरू होती है। कवि–पत्रकार मंगलेश डबराल इसकी अध्यक्षता करने आये थे। उनकी स्वीकृति में कहीं भी अगर मगर नहीं था। गोष्ठी का विषय 'समांतर सिनेमा का सामाजिक प्रभाव' था। सुश्री पूजा खिल्लन ने अपना परचा पढ़ा। डबराल जी ने अपना विषय बखूबी से रखा। और जाते–जाते के प्रतिष्ठान एवं 'द पब्लिक एजेंडा' (जिसके वे संपादक हैं) के बीच बौद्धिक सम्बन्ध का प्रस्ताव देते गए। लगभग तीन घंटे वे प्रतिष्ठान में रहे और इस दौरान वे इसके कार्यों को समझने–बूझने का प्रयास करते रहे। जब उन्होंने प्रतिष्ठान में अपनी उपस्थिति को 'चूक' (देखें जनसत्ता 'वह एक चूक थी' 13 मई 2012) बताया तो मैं अचम्भित रह गया। मुझको अचरज इस बात की नहीं हुई कि वे भी अपराध–बोध के शिकार हो गए बल्कि यह जानकर हुई कि वामपंथ से जुड़ी बौद्धिकधारा अभी भी साठ व सत्तर के दशक में ही ठहरी हुई है। इस ठहराव को दूर करने के सभी प्रयासों पर रेड ब्रिगेड का हल्ला–बोल शुरू हो जाता है।

1969 की एक घटना इस सम्बन्ध में अत्यंत ही प्रासंगिक है। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के एक बड़े नेता एसएस मिराजकर ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के चेयरमैन एसएस डांगे को उनके सत्तरवें जन्मदिन पर शुभकामना सन्देश भेजा जिसमें उन्हें 'क्रान्तिकारी योगदान' के लिए दीर्घायु होने की कामना की। बस वामपंथी राजनीति में तलवारबाजी शुरू हो गयी। पार्टी ने मिराजकर को इस सामाजिक शिष्टाचार के लिए 'कारण बताओ नोटिस' भेज दिया। मिराजकर ने जो जवाब दिया वह डबरालजी के स्पष्टीकरण से बहुत कुछ मिलता जुलता है। मिराजकर ने लिखा 'मैंने इस पर गंभीरता से सोचा और अब भी नहीं समझ पाया कि मुझे क्या स्पष्टीकरण देना चाहिए। बात यह है कि मैंने शुभकामना सन्देश बिना ज्यादा सोचे जल्दीबाजी में भेज दिया। मुझे सन्देश को लिखते समय अधिक सावधान रहना चाहिए था। निःसंदेह मैंने जरुरत से ज्यादा अपना कदम आगे बढ़ा दिया। मैं पार्टी से अनुरोध करता हूँ कि इस राजनीतिक चूक के लिए जो भी उचित हो वह कार्रवाई करे।' पार्टी के महासचिव पी सुंदरय्या आग बबूला हो गए और उन्होंने कुछ इस अंदाज में उन्हें पुनः पत्र भेजा– 'आपकी सफाई आपकी चूक से ज्यादा खतरनाक है। आपने राजनीतिक चूक बताकर विषय की गंभीरता को समझने का प्रयास नहीं किया है।' एक साल बाद उन्हें पार्टी से बाहर का रास्ता दिखा दिया गया। तब से लेकर तक दुनिया में अनेक बदलाव आये हैं। बंद दिमाग और बंद समाज नापसंद किया जा रहा है। तब स्टालिन और ट्रॉट्स्की के संघर्ष को वामपंथ आईना मानता था। क्या वही स्थिति भारत के वामपंथ की आज भी है?

मैं हाल में प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता भोगेन्द्र झा के तीन मूर्ति पुस्तकालय में 'ओरल हिस्ट्री' के अंतर्गत लिए गए साक्षात्कार को पढ़ रहा था। उसमे झा ने उस वातावरण का जीवंत चित्रण एक प्रसंग सुनाकर किया है। उन्होंने पार्टी में स्टालिन के एक निर्णय (तेहरान से लाल सेना हटाने) का विरोध किया तब नेतृत्व ने उनसे कहा 'क्या बोल रहे हो? कम्युनिस्ट पार्टी या स्टालिन के द्वारा गलती?' झा ने प्रतिप्रश्न किया कि 'क्या यह संभव नहीं कि स्टालिन भी गलती कर सकता है?' इस पर नेतृत्व ने जो जवाब दिया वह अत्यंत ही मजेदार है 'क्या यह संभव नहीं है कि तुम लड़के नहीं लड़की हो?' साठ व सत्तर के दशक क़ी वैचारिक कट्टरता एवं संकीर्णता तीन बातों के द्वारा बौद्धिकता को नियंत्रित करने का काम करता रहा : वैचारिक प्रेरणा जो साहित्यकारों और समाजशास्त्रियों को वैचारिक तरीके से बौद्धिक कार्य करने के लिए उद्वेलित करती रही। यह कुछ हद तक संकीर्णता से मुक्त था। अन्य दो बाते 'दबाव' व 'डर' था, जो वैचारिक एवं

स्वतंत्रता का आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य करती रहीं। आज प्रेरणा लुप्त हो गयी और डर एवं दबाव का प्रयोग हो रहा है। साहित्य क़ी व्यापक आधारभूमि कोई विचारधारा तो हो सकती है परन्तु उसे लक्ष्मण रेखा और Mirajakar phenomena के तहत मापना उसकी स्वायत्तता और उद्‌भव को रोकने जैसा होगा। यही कारण है कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' पार्टी लेखक संघ में तब्दील होकर रह गया है। 'रेड ब्रिगेड' स्वतंत्रता, वैयक्तिकता और सामाजिकता सबको बाँधकर रखना चाहता है। यही कारण है कि चंचल चौहान स्वयं प्रगतिशील लेखक संघ कि विरासत और आज की स्थिति के बीच की खाई महसूस कर सकते हैं। थानवी जी के लेख में उन्हें जिस अंतर्राष्ट्रीय पूँजी का लेखक संघ को बदनाम करने का षड्‌यंत्र नजर आया वह सत्तर के दशक कि मानसिकता का द्योतक है। यदि हम इस अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के खतरों और बाजारवादी ताकतों के षड्‌यन्त्र को समझ जायें तो हमें संवाद की आवश्यकता महसूस होगी। परम्परागत शत्रुता अब लेखागार का विषय बन गयी है। असली खतरा तो उसी बाजार की ताकतों से है। लेकिन वामपंथ को तो आरएसएस से लड़ना है यदि कल संघ मार्क्स को पढ़ने लगे तो ये मार्क्स को भी प्रतिक्रियावादी घोषित कर देंगे।

आप जान लीजिये, जब समाजशास्त्री और लेखकों का संघ पार्टी के पूर्णकालिकों के हाथों में चला जाता है तब उसमें नारेबाजों का ही महत्व बढ़ता है। फिर निराला, निर्मल, नामवर घर के भीतर के शत्रु समझ लिए जाते है। देखिये, हाल में नामवर सिंह के प्रति किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है! रामविलास शर्मा को अंत में 'संघी' घोषित कर दिया गया। पूछिए इन नारेबाजों से वामपंथ को उन्होंने किस अंतर्राष्ट्रीय ताकत से मिलकर क्षति पहुचाने का काम किया था?

मुझे आश्चर्य डबराल जी के माफीनामे से इसीलिए हुआ कि वे मिराजकर की तरह पार्टी कार्यकर्ता नहीं हैं। मैंने उन्हें बुलाया था। वे स्वयं नहीं आये थे। उन्होंने बेहिचक अपनी बात रखी थी। मैं वामपंथ के बीच के झगड़े में पड़ना मुनासिब नहीं समझता हूँ। पर बौद्धिक जगत से जुड़ा विषय है अतः इसे नकारा भी नहीं जा सकता है। वास्तव में उदय प्रकाश जी के साथ जो हुआ वह वैचारिक अनैतिकता का मिसाल है। वे अपने भाई की मृत्यु के बाद उनके लिए आयोजित एक सामाजिक कार्यक्रम में हिस्सा लेने गए थे और वहां योगी आदित्यनाथ के साथ मंच साझा करने के कारण वे 'काफिर' घोषित कर दिए गए। इसमें डबराल जी भी शामिल थे। यही असली चूक थी जिसे सही साबित करने के लिए उन्होंने प्रतिष्ठान में अपनी सहर्ष व सहज उपस्थिति को चूक बता दिया।

जनसत्ता के विमर्श में जिस प्रकार से व्यक्तिगत तौर पर भाषा एवं भावनाओं का प्रयोग किया गया उससे विमर्श के वास्तविक लक्ष्य को पीछे छोड़ देने का काम किया है। एक दूसरे के विचारों को समझने या आदान–प्रदान करने की जगह कीचड़ उछालने और विभिन्न दृष्टिकोणों में बहस खो गया। यह वामपंथ जगत में व्याप्त परस्पर अविश्वास, असहिष्णुता के साथ घोर व्यक्तिवाद का प्रमाण है। संघ विरोध के नाम पर कब तक छद्‌म एकता का प्रदर्शन होता रहेगा?

आरएसएस के नाम पर वैचारिक बहस को कितने दिनों तक आप रोक सकते हैं? संघ एक ठोस वैचारिक आधार पर खड़ा है। वह देश में तमाम जनतांत्रिक परिवर्तनों का सारथी रहा है। सामाजिक–आर्थिक विषयों पर उसका प्रगतिशील कदम जिन्हें नजर नहीं आता है उनपर सिर्फ हैरानी ही व्यक्त की जा सकता

है। अंतर्राष्ट्रीय पूँजी को यदि किसी ताकत से आशंका और भय दोनों है तो वह आरएसएस ही है। इसलिए अमेरिका के निशाने पर वामपंथ से कहीं अधिक संघ है।

मैं दिसम्बर 2010 में कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर गया और एक वरिष्ठ नेता से खुलकर इस प्रश्न पर बातचीत की। उनसे मैंने एक सवाल कियाः 'भाजपा में मुस्लिम इक्के–दुक्के हैं यह बात तो समझ में आती है पर कम्युनिस्ट पार्टियाँ जिसका इतिहास मुस्लिम लीग के साथ आजादी के पहले सहयोग का रहा है और जो आजादी के बाद उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों की बात सबसे ज्यादा करती आई है। क्यों नहीं वे 1–2 प्रतिशत भी मुसलमानों को आकर्षित कर पाने में सक्षम हो पाई हैं?' मुसलमान उनसे क्यों नहीं जुड़ते हैं? अतः वास्तविक प्रश्न उनके बीच सामाजिक और धार्मिक पुनर्जागरण को समझने और समझाने का है जो वर्तमान सामाजिक दर्शन के होते संभव नहीं लगता है। इसी दर्शन ने तजामुल हुसैन, एमएच बेग, एएए फैजी एवं आरिफ मोहम्मद खान जैसे प्रगतिशील चिंतकों को हाशिये पर रखा है।

विचारधाराओं के बीच विरोध होना स्वाभाविक है पर उनके बीच परस्पर सहयोग और संवाद रोकना बौद्धिक कायरता और मानसिक विकलांगता मानी जाएगी। लोकनायक जयप्रकाश नारायण (जे.पी.) ने इसे अच्छी तरह समझा था। इसीलिये वे संवाद के जीवंत प्रतीक माने गये हैं। तीस के दशक में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के भीतर कम्युनिस्टों से मेलजोल करते रहे और अति होने के बाद उनसे नाता तोड़ा था। वे हर तरफ से गाली सुनते रहे पर संवाद की परम्परा को जारी रखा। 1953 की एक घटना है। नेहरू के आग्रह और आमंत्रण पर वे उनसे मिलने गए, फिर तो तूफ़ान खड़ा हो गया। लोहिया जी और उनके शिष्य मधु लिमये ने सार्वजनिक रूप से उनकी कटु आलोचना की। जेपी ने 9 मार्च 1953 को जारी बयान में कहा कि यह दुःखद साबित हुआ तो नेहरु ने 18 मार्च, 1953 को बयान जारी कर जे.पी. के बारे में फैलाई जा रही गलतफहमियों पर टिप्पणी की कि ' किसी पर दोषारोपण की मै कड़ी निंदा करता हूँ।' जेपी ने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के बैतूल अधिवेशन में कहा कि अगर पार्टी का मैं सदस्य नहीं होता तो पूरे देश भर घूमता, कांग्रेस एवं अन्य पार्टियों के नेताओं से मिलता, उन्हें अपने विचार का बनाने की कोशिश करता।' 1973 से 1978 तक वे संघ के करीब बने रहे। क्या यह उनका अवसरवाद था?या यह लोकतंत्र और परिर्वतन के प्रति प्रतिबद्धता का प्रतीक? वे मधु लिमये की तरह नारेबाज नहीं थे। अतः वैचारिक और राजनीतिक क्षेत्रों में आजीवन योगदान करते रहे।

संवाद उद्देश्यपूर्ण होता है। पहल करने वालों को अवश्य आलोचना का शिकार होना पड़ता है। थानवी जी ने मेरे सम्बन्ध में ब्लॉग से अनेक टिप्पणियाँ उद्धृत की, जिसमें से एक में मुझे 'विषैला विचारक' कहा गया। मैं विचलित नहीं हुआ। ऐसे तो मैं अपने पिताजी जो वामपंथी रहे और जो कोमरेड इन्द्रदीप सिन्हा और योगेन्द्र शर्मा के साथी थे, से लगातार वैचारिक बहस करता रहता था। इसे ही वैचारिक लोकतंत्र कहते हैं। मैंने कभी नहीं सोचा था कि वैचारिक कट्टरता विश्वविद्यालयों में इतनी अधिक है कि लोग एक दूसरे को शत्रु भाव से देखते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान की एम.ए. की परीक्षा में मैं प्रथम आया। मेरे शैक्षणिक जीवन में तीसरी बार गोल्ड मेडल मिला। मैंने एमए में "Political Ideas of Dr. K.B. Hedgewar" पर Dissertation लिखा था। तब कुछ Faculty members ने मुझे चेताया था कि यह मेरे

कैरियर के लिए अच्छा नहीं होगा। पर सब कुछ लाभ–हानि और मान–सम्मान को सामने रखकर ही नहीं किया जाता है। मैं अपनी राह पर चला। एम.फिल. के साक्षात्कार में एक मार्क्सवादी प्रोफेसर ने मुझसे पूछा कि "What is difference between you and Nathuram Godse?" मैंने बड़ी अस्वाभाविक तरीके से अपनी उत्तेजना को रोक कर अकादमिक मर्यादा को बनाये रखा। पता नहीं मेरा जवाब कितना सटीक था "Every supporter of Anandpur sahib Resolution is not Beant Singh & Satwant Singh, so every adherent of Hindu Rashtra is not Nathuram Godse." एक वरिष्ठ (महिला) प्राध्यापक ने उठकर मुझे गले लगा लिया। मैंने इस प्रसंग को विज्ञान भवन में, जब श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने मेरी पुस्तक डॉ. हेडगेवार की जीवनी का विमोचन किया था, उस समय अपने संक्षिप्त लेखकीय उद्‌बोधन में सुनाया था। लेकिन इन चीजो ने मुझे कम से कम संकीर्णतावादी नहीं बनने दिया। इसीलिए समाजवादी एवं मार्क्सवादियों से मैं सतत् विमर्श करता रहता हूँ। बौद्धिक एवं व्यक्तिगत जीवन में ईमानदारी, प्रतिबद्धता और मूल्यों के प्रति निष्ठा यदि नहीं है तो चाहे आप जिस भी विचारधारा के हों और जिस भी अख़बार में स्तंभकार हों या पुस्तकों को छापने का कारखाना चलाते हों या जितने भी मंचों पर मुख्य अतिथि बनते हों आप इतिहास के कूड़ेदान में फेक दिए जाएँगे। सच्चरित्रता और जन प्रतिबद्धता बौद्धिकता को स्थायी भाव प्रदान करता है। वामपंथ हो या दक्षिणपंथ, दोनों को इस आईने में अपनी–अपनी स्थिति का मूल्यांकन करना चाहिए।

भारत नीति प्रतिष्ठान आरम्भ से (सितम्बर, 2008) स्वतंत्र विमर्श को बढ़ाने के लिए प्रतिबद्ध रहा है। यहां सभी प्रकार के विचारकों को आमंत्रित किया जाता रहा है। इनमें वामपंथ से जुड़े लोग भी हैं। आना नहीं आना उनके हाथ में है। कभी छल या झूठ का सहारा नहीं लिया गया। सत्य बताकर उन्हें बुलाया गया। छल और झूठ से बौद्धिक लड़ाई थोड़े दिनों तक लड़ी जा सकती है परन्तु उसकी आयु सीमित होती है। प्रो. अमिताभ कुंडू जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्राध्यापक हैं, जब उन्हें मैंने प्रतिष्ठान के एक हस्तक्षेप पत्र में लिखने और श्री जगमोहन जी के साथ उसके लोकार्पण के लिए आमंत्रित किया तो मुझे आशंका थी कि उन्हें संघ के नाम पर रोकने का प्रयास होगा। इसलिए मैंने उनके चैम्बर में जाकर बता दिया कि मै डॉ. हेडगेवार का जीवनी लेखक हूँ तथा सच्चर कमिटी के रिपोर्ट पर मैंने अपने मोनोग्राफ 'रोटी, रोजगार और राज्य का साम्प्रदायीकरण' में उसकी वैधानिकता और निष्कर्षों पर सवाल खड़ा किया है। हमारे बीच परस्पर विश्वास स्थापित हुआ।

वे लोकार्पण करने आये और एक परचा भी लिखा। मेरा अनुमान ठीक निकला। नारेबाजों ने उन्हें रोकने की खूब कोशिश की परंतु असफल रहे। रामशरण जोशी हों या कमर आगा, अभय कुमार दुबे हों या डॉ. रामजी सिंह सब समझ–बूझकर आरंभिक भड़काऊ प्रतिरोधों के बावजूद र्कायक्रमों में शिरकत करते रहे। आशुतोष (आई बी एन 7) जब हाल ही में आये तो उन्होंने एक ट्वीट किया कि 'मेरा होसबले जी (संघ के सहसरकार्यवाह) के साथ मंच साझा करना अनेक मित्रों को अच्छा नहीं लगा होगा।' मुझे लगता है कि सभी प्रतिरोधों और विपरीत वातावरण के बावजूद संवाद की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। अभी और भी पत्थर फेके जाएंगे पर प्रक्रिया रूकने वाली नहीं है। उनलोगों को अपनी गलतफहमियां दूर कर लेनी चाहिए कि वामपंथ के लोगों के आने से प्रतिष्ठान या संघ को वैधानिकता मिलती है। हेडगेवार–गोलवलकर अधिष्ठान मजबूत धरातल पर है और किसी से वैधानिकता का मोहताज नहीं है। यह संवाद तो नए संदर्भों

क़ी आवश्यकता है और यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हम परम्परागत खांचों में बंद होकर नव साम्राज्यवादियों एवं विदेशी तथा देशी पूँजी के साठ–गांठ का मुकाबला नहीं कर पाएंगे। यदि हम ऐसा करते हैं तो वे हमारी नादानी पर शायद मुस्कुरा रहे होंगे।

बौद्धिक जगत में तीन बातें होती हैं – Perception, Interpretation and Fact. प्रायः धारणा को जो लोग प्रथम स्थान देकर विमर्श करते हैं वे असफल होते हैं। मेरा मानना है कि तथ्य को प्राथमिकता देना चाहिए फिर व्याख्या को और धारणा का क्रम अंत में तीसरे स्थान पर आता है। विमर्श में जीत–हार किसी विचारधारा की नहीं होती है, सिर्फ समाजपरक विचार आगे बढ़ता है। स्वामी दयानंद सरस्वती ने काशी के तीन सौ मूर्तिपूजक ब्राह्मणों के साथ अकेले संवाद किया था। इसने समाज की चेतना को मजबूत बनाने का काम किया था। इसलिए वैचारिक धरातल पर आवाजाही आज और भी जरूरी है। वैचारिक बहुलता (Ideological Pluralism) और एक दूसरे के प्रति सदिच्छा में आस्था होना इसके लिए आवश्यक है। वामपंथ में स्टालिनवाद को आदर्श मानने वाले स्वतंत्र और सदिच्छायुक्त विमर्श को वामपंथ की पराजय और अवमानना मानते हैं। इसी विडंबना ने डबराल विवाद को जन्म दिया। संवाद का पहला चरण इसी चक्रव्यूह को तोड़ना था।

(http://www.junputh.com/2012/05/blog-post_3944.html)

10 भारतीय लेखक विरोध दर्ज करने में अपनाते हैं दोहरा मापदंड : तसलीमा नसरीन

ज्यादातर सेक्युलर भारतीय हिन्दू विरोधी हैं

पुरस्कार वापस करने वाले लेखकों की संख्या जिसमें साहित्य पुरस्कार शामिल हैं 40 से अधिक हो चुकी है। सरकार ने इनके विरोध को बनावटी बताया है। बांग्लादेशी लेखिका तसलीमा नसरीन ने टाइम्स ऑफ इंडिया के लिए सागरिका घोष को दिए एक साक्षात्कार में कहा कि ये लोग तब क्यों शांत थे जब उनको निशाना बनाया गया था?

तसलीमा नसरीन

- **भारत में बहुत से लेखकों ने अपना साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटा दिया है इस पर आपका क्या कहना है?**

  लेखकों ने अपने पुरस्कार वापसी के माध्यम से अन्याय के खिलाफ विरोध दर्ज करने का निश्चय किया और इसमें कुछ भी गलत नहीं है। कभी किसी को कुछ विचार आते हैं और बाकी लोग इसे पसंद कर लेते है।

- **क्या आप सरकार की इस बात से सहमत है कि यह विरोध बनावटी था और इसके पीछे राजनीतिक एजेंडा था?**

  मैं ऐसा नहीं समझती। लेखक राजनीतिक और सामाजिक रूप से जागरूक लोग होते हैं।

- **क्या आपको ऐसा लगता है कि तब ये लेखक शांत थे जब आपको निशाना बनाया जा रहा था?**

  तब ज्यादातर लेखक शांत थे जब मेरी किताब को पश्चिम बंगाल में प्रतिबंधित किया गया था, जब मेरे खिलाफ पांच फतवे जारी किये गए थे, मुझे पश्चिम बंगाल से बाहर निकाल दिया गया था। मुझे दिल्ली में महीनो नजरबन्द कर दिया गया था और मुझे यह देश छोड़ने के लिए मजबूर किया गया था। टी.वी. पर मेरा मेगा सीरियल प्रतिबंधित कर दिया गया था। मै यहाँ रहने के लिए अकेले संघर्ष करती रही। उस समय न केवल ये सभी लेखक चुप थे बल्कि सुनील गांगुली और शंख घोष जैसे

लेखको ने तब के पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य से मेरी किताब को प्रतिबंधित करने की अपील भी की थी।

- **जब विरोध जताने का मामला आता है तो क्या लेखक दोहरे मापदंड अपनाते हैं?**

  हाँ, मैं सहमत हूँ कि जब विरोध जताने का मामला आता है तब बहुत से लेखक दोहरे मापदंड अपनाते हैं।

- **क्या भारत में असहिष्णुता बढ़ रही है ?**

  हाँ, मुझे इस बात का डर है।

- **आपने हाल ही में ट्वीट किया था कि भारत में जिस तरह की धर्मनिरपेक्षता का अनुसरण किया जाता है उसमें बहुत समस्याएं हैं!**

  निश्चित रूप से। ज्यादातर धर्मनिरपेक्ष लोग मुस्लिम समर्थक और हिन्दू विरोधी हैं। ये सभी लोग हिन्दू कट्टरवाद का विरोध करते हैं और मुस्लिम कट्टरवाद का बचाव करते हैं।

- **क्या लेखकों को विरोध स्वरूप पुरस्कार वापस करना चाहिए?**

  ये समझदार लोग हैं। अगर ये पुरस्कार वापस करना चाहते हैं तो इन्हें पुरस्कार वापस करना चाहिए इन्हें कोई सलाह नहीं दे सकता।

- **क्या आपको लगता है कि भारत के प्रधानमंत्री को मुसलमानों या अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसा के मामले में ज्यादा सहानुभूतिपूर्वक बोलना चाहिए?**

  राजनीतिज्ञ लोग वोट के लिए मुसलमानो को लुभाते हैं और उन्हें इतनी सुविधाएं दी जाती हैं कि जिससे बहुत से हिन्दू नाराज होते हैं। यह भी सच है कि मुसलमानों को ये सुविधाएं कभी–कभी सिर्फ इसलिए मिलती हैं क्योंकि वे मुसलमान हैं। लेकिन ऐसा अन्य धार्मिक समूहों के साथ भी होता है। 2013 में पश्चिम बंगाल के कैनिंग स्थित एक हिन्दू गांव को मुस्लिम कट्टरपंथियों द्वारा जला दिया गया। अगर मुसलमानों को प्रताड़ित किया जाता तो वे अपना देश छोड़कर भागते जैसा कि भारत के पड़ोसी देश पाकिस्तान और बांग्लादेश में हो रहा है जहां विभाजन के बाद से हिन्दू देश छोड़कर भाग रहे हैं।

(द टाइम्स ऑफ इंडिया, 17 अक्टूबर, 2015)

गोपालदास नीरज

कवि और गीतकार **गोपालदास 'नीरज'** ने देश में 'बढ़ती असहिष्णुता' के विरोध में साहित्यकारों द्वारा अपने सम्मान लौटाए जाने पर तल्ख टिप्पणी करते हुए कहा है कि अदीबों का यों सियासत करना बेहद दुखद है और इसके जरिए पूरे देश की मान–मर्यादा से खिलवाड़ हो रहा है। नीरज ने आगे कहा कि 'यह दुख की बात है कि अब साहित्यकार भी सियासत करने लगे हैं। देश में किसी भी तरह की असहिष्णुता नहीं है। झूठी बात प्रचारित करने वाले लोग पूरे देश की मान–मर्यादा से खिलवाड़ कर रहे हैं।'

उन्होंने पिछले दिनों देश में असहिष्णुता बढ़ने का आरोप लगाते हुए इसके विरोध में अपने पुरस्कार लौटाने वाले साहित्यकारों को कांग्रेस का 'चाटुकार' करार दिया था और कहा था कि कांग्रेस की हुकूमत में जिन्हें पुरस्कार मिला, उन्होंने ही स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करते हुए उसे वापस कर दिया। 'पद्म भूषण' से नवाजे जा चुके इस साहित्यकार ने अवार्ड लौटाने वाले साहित्यकारों पर दोहरे पैमाने अपनाने का आरोप लगाया और कहा कि जब लाखों कश्मीरी पंडितों को उनके ही वतन से बेदखल किया गया तब किसी साहित्यकार की आत्मा नहीं जागी।

(जनसत्ता, 1 जनवरी, 2016)

11 असहिष्णुता, अस्पृश्यता और धमकी बन गए हैं हथियार

वैचारिक असहिष्णुता और अस्पृश्यता लम्बे समय से वामपंथियों और उनसे जुड़े संगठनों का न केवल विचार दर्शन रहा है बल्कि इन संगठनों ने अन्य राष्ट्रवादी संगठनों के खिलाफ इसे रणनीति के तहत इस्तेमाल किया है। तथाकथित बौद्धिक विचारक पूर्वनियोजित तरीके से अपने विरोधी विचारधाराओं को सुनने के बजाय उन्हें धमकाने की रणनीति अपनाते रहे हैं और अपनी बात जबरदस्ती थोपते रहे हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से लम्बे समय तक जुड़े रहे इरफान हबीब द्वारा राष्ट्रवादी संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की तुलना आईएसआईएस से करना। हालांकि उन्हें इस बात का अहसास है या जानबूझकर इस बात को नजरअंदाज करते रहे हैं कि सिमी जैसा राष्ट्रविरोधी संगठन न केवल विश्वविद्यालय में उनके कार्यकाल के दौरान फला–फूला है बल्कि इसे उन्होंने अपना समर्थन भी दिया है। उन्होंने इसकी गतिविधियां बढ़ाने में मदद भी की है। सिमी का जमाते इस्लामी से संबंध जगजाहिर है। सिमी के खिलाफ चुप्पी के पीछे जो बात सामने निकलकर आ रही है वह यह है कि सिमी और वामपंथियों की रणनीति और लक्ष्य एक ही है।

सरकार की खुफिया एजेंसियों ने देश में मौजूदा कानून के खिलाफ कार्य करने वाले और आतंकवादी संगठनों जैसे हिज्बुल मुजाहिदीन, जम्मू कश्मीर लिब्रेशन फ्रंट और अल्लाह टाइगर्स के साथ इनके सीधे संबंध होने की बात कही है। सिमी को वर्ल्ड एसेंबली ऑफ मुस्लिम यूथ, रियाद से आर्थिक मदद तो मिल ही रही है इसने इंटरनेशनल इस्लामिक फेडरेशन ऑफ स्टुडेंट ऑर्गेनाइजेशन, कुवैत से भी नजदीकी संबंध बना रखे हैं। सिमी के पाकिस्तान, बांग्लादेश और नेपाल के जमाते इस्लामी यूनिट के साथ संबंध होने के अलावा इस्लामिक छात्र शिविर से भी कामकाजी संबंध हैं। इनके तार हिज्बुल मुजाहिदीन और आईएसआई से भी जुड़े हैं। लेकिन इन सब मसलों पर तथाकथित बौद्धिक लोग अपनी चुप्पी बनाए रखते हैं।

साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों के साथ–साथ बॉलीवुड के दो नामी कलाकारों शाहरूख खान और आमिर खान को भी भारत में असहिष्णुता नजर आने लगी है। जबकि एक पाकिस्तानी मूल के पार्श्व गायक अदनान सामी ने भारत की नागरिकता ग्रहण करते हुए कथित असहिष्णुता पर बोलने वालों को आईना दिखाया है। शाहरूख खान जो अब दुनिया के अमीरों में शुमार हैं और आमिर खान जिनकी फिल्में सभी देखते हैं वे राजनीतिक दल के कार्यकर्ता की तरह व्यवहार करते नजर आ रहे हैं। हालांकि अपने व्यावसायिक फायदे की बात आने पर ये अपनी बातों से पीछे हटने में भी गुरेज नहीं करते। इस ढोंग और

किरण राव और आमिर खान

रामनाथ गोयनका पुरस्कार वितरण कार्यक्रम के अवसर पर आमिर खान ने कहा कि वे महसूस करते हैं कि पिछले छह से आठ महीने में असुरक्षा और भय की भावना बढ़ी है। उन्होंने कहा, ''मैं जब घर पर किरण के साथ बात करता हूं, वह कहती हैं कि 'क्या हमें भारत से बाहर चले जाना चाहिए?' उन्हें अपने बच्चों की चिंता है। उन्हें भय है कि हमारे आसपास कैसा माहौल होगा। किरण को प्रतिदिन समाचारपत्र खोलने में डर लगता है।''

(http://khabar.ndtv.com/)

पाखंड से देश को सिर्फ नुकसान ही हो रहा है। सबसे ज्यादा दुखद यह है कि सबकुछ सुनियोजित ढंग से किया जा रहा है।

वहीं हिन्दी के प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने कहा कि सुर्खियां बटोरने के लिए लेखक लौटा रहे हैं पुरस्कार। उन्होंने कहा कि सत्ता विरोध के अन्य तरीके भी अपनाए जा सकते थे। पुरस्कार वापस करना सही कदम नहीं है।

भारत में बहुत से ऐसे मसले हैं जिन पर विवाद होते रहे हैं लेकिन सेकुलरिस्ट जमात इसे अपने हिसाब से परिभाषित करती आ रही हैं और अन्य लोगों को कटघरे में खड़ा करती रही हैं। फिल्मकार आनंद पटवर्धन से जब बुर्का जैसे मसले पर प्रश्न किया गया तो उनका क्या जवाब था वह नीचे प्रस्तुत है :

'बुर्का' जैसे मसलों पर मुस्लिम कट्टरवादी आगे बढ़कर अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं। क्या आपको लगता है कि अब समय आ गया है 'इन द नेम ऑफ अल्लाह' जैसी कोई डाक्यूमेंट्री बनाने का?

ये जाहिर सी बात है कि जनसंहार या जातीय शुद्धिकरण का सबसे बड़ा खतरा समाज के बहुसंख्यकों की तरफ से आता दिखाई देता है। अगर मैं पाकिस्तान या बांग्लादेश में रहता तब मेरा ध्यान मुस्लिम आतंक पर केन्द्रित होता और अमेरिका या इंग्लैंड में ईसाई दक्षिणपंथियों पर, भारत में मुझे हिन्दू दक्षिणपंथ के खिलाफ ही जनसमुदाय को सचेत करना होगा।

हिंदुत्व की आलोचना का दूसरा प्रमुख कारण मेरा स्वयं एक हिन्दू होना है। मेरी आलोचना का प्रभाव 'अन्य' की आलोचना से ज्यादा होगा।

आनंद पटवर्धन के अनुसार 'परमाणवीय भारत फासीवादी भारत होगा' (कुदंकुलम न्युक्लीय योजना के विरोध में) हमारे 'परमाणु वैज्ञानिक' ठीक तौर पर वैज्ञानिक तक नहीं हैं। काकोडकर 'परमाणु वैज्ञानिक'

कहे जाने के योग्य नहीं हैं, वे एक मैकेनिकल इंजिनियर हैं। अब्दुल कलाम भी योग्य नहीं हैं। वे पी.आर. के आदमी हैं।[1]

इन लेखकों के अलावा कुछ संगठन ऐसे भी हैं जो लगातार इस तरह की मुहिम चला रहे हैं जिसमें एक विशेष विचारधारा को न केवल प्रसारित किया जाता है बल्कि उसके विरोधी विचारधारा के खिलाफ अभियान चलाया जाता है। सफदर हाशमी मेमोरियल ट्रस्ट (सहमत) और अनहद जैसे संगठन जो किसी जमाने में कांग्रेस विरोध में पैदा हुए आज उन्हीं की गोद में बैठे हुए हैं। आरटीआई से इस बात की जानकारी हासिल की जा सकती है कि अर्जुन सिंह से उन्हें कितना फायदा पहुंचा है।

सहमत

1 जनवरी 1989 को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के साहिबाबाद में 'हल्ला बोल' नुक्कड़ नाटक के दौरान एक सीपीआईएम कार्यकर्ता सफदर हाशमी की हत्या कर दी गई। हत्या का मुख्य आरोपी रामानंद झा के खिलाफ खड़ा किया गया कांग्रेस पार्टी का उम्मीदवार मुकेश था। 'सहमत' की नींव सफदर हाशमी की याद में रखी गई थी।

1995 में कांग्रेस नेता अर्जुन सिंह की सहमति से मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा 'सहमत' को 25 लाख रूपये दिए गए।[2] 12 जनवरी 1997 में द हिन्दू के अनुसार सहमत ने नरसिम्हा राव सरकार से भी धनराशि ली। धीरे धीरे सहमत का नाम कॉर्पोरेट कंपनियों के साथ भी जुड़ने लगा।[3] सीपीआईएम सदस्य और जन नाट्य मंच की कार्यकर्ता सुधन्वा देशपांडे ने कहा की

शाहरुख खान

शाहरुख खान ने कहा, 'असहिष्णु होना मूर्खता है और यह सिर्फ हमारा एक मुद्दा नहीं बल्कि सबसे बड़ा मुद्दा है। देश में धार्मिक असहिष्णुता और धर्मनिरपेक्ष नहीं होना जघन्य अपराध है जो आप एक देशभक्त के रूप में कर सकते हैं।' उन्होंने कहा, 'जिन लोगों ने अवार्ड लौटाए हैं, मैं उनका सम्मान करता हूं, लेकिन मैं ऐसा नहीं करूंगा।' पद्मश्री पा चुके शाहरूख ने अभी तक राष्ट्रीय पुरस्कार नहीं जीता है। मगर उनकी इस टिप्पणी से कभी हंगामा मच गया था कि वे पुरस्कार खरीदने में विश्वास रखते हैं।

(जनसत्ता, 3 नवंबर, 2015)

1. तहलका, 13 अक्टूबर, 2007
2. इंडिया टुडे, 31 जनवरी, 1995
3. आउटलुक, 1 जनवरी, 1997

सहमत के कोष की देख–रेख वही वर्ग कर रहा है जिसने शिव सेना का वित्त–पोषण किया था। कभी कट्टर वामपंथी रहे सुधीश पचौरी ने सहमत को वंचितों से अलग, एक स्वार्थपरायण समूह कहकर संबोधित किया। दिल्ली पुलिस के लिए मुशायरे आयोजित करने जैसे कार्यों पर आपत्ति जताते हुए मंगलेश डबराल ने कहा कि "सहमत सफदर हाशमी के किए कराए पर पानी फेर रही है। यह एक दूसरी भारत भवन बनती जा रही है।"

सहमत से बहुत सारे वामपंथी लेखकों का नाम जुड़ा रहा है।[4] इनमे से एक अशोक वाजपयी भी हैं। अशोक वाजपेयी, कांग्रेस नेता अर्जुन सिंह के करीबी रहे हैं। 20 अप्रैल 2005 को अशोक वाजपेयी और एम. के. रैना के नेतृत्व मे सहमत द्वारा एक विज्ञप्ति जारी की गई जिस पर कई वामपंथी बुद्धजीवियों के हस्ताक्षर थे। विज्ञप्ति विभिन्न राजनैतिक दलों के पास गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी को 2002 में हुए सांप्रदायिक नरसंहार के मद्देनजर मुख्यमंत्री पद से बर्खास्त करने की मांग को लेकर भेजी गई थी। एम.एफ. हुसैन को भारत रत्न दिए जाने की सिफारिश 17 नवम्बर, 2006 को सहमत द्वारा राष्ट्रपति को भेजे गए एक पत्र में की गई जिसमें अशोक वाजपेयी का हस्ताक्षर शीर्ष पर था। तीस्ता सीतलवाड के घर तथा दफ्तर पर

केन्द्रीय गृह राज्यमंत्री श्री किरेन रिजीजू अदनान सामी को भारतीय नागरिकता प्रमाण पत्र देते हुए

पार्श्व गायक अदनान सामी को 1 जनवरी, 2016 को गृहमंत्रालय ने भारत की नागरिकता प्रदान की। नागरिकता का प्रमाणपत्र लेकर मंत्रालय से बाहर आने के बाद लोगों द्वारा उनसे पूछे गए स्वाभाविक प्रश्न कि क्या भारत में असहिष्णुता है?, के उत्तर में उन्होंने कहा कि यदि इतनी असहिष्णुता होती तो वे भारत की नागरिकता का प्रयास ही क्यों करते? नागरिकता मिलने के बाद उन्होंने ट्वीट किया कि "एक नई पारी की शुरुआत, एक नया अनुभव, एक नया अपनापन, एक नया प्यार, एक नया देश, जयहिन्द।"

(द इंडियन एक्सप्रेस, 2 जनवरी, 2016)

4. 2003 में सहमत द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'ड्राइंग द बैटल लाइन्स' का विमोचन अशोक वाजपेयी ने किया। इसके अलावा उन्होंने 1 जनवरी 2013 को दिल्ली के कांस्टीट्युशन क्लब में सहमत द्वारा प्रकाशित 'इप्टा की यादें' और 'मनोतमा' का भी विमोचन किया।

सीबीआई द्वारा की गई छापामारी के खिलाफ सहमत की ओर से अशोक वाजपेयी ने सहानुभूति जताई।

अनहद

'अनहद' (एक्ट नाउ फॉर हारमनी एंड डेमोक्रेसी) की स्थापना 2002 में गुजरात दंगों के प्रतिक्रिया के रूप में हुई। इसकी स्थापना 2003 में शबनम हाशमी, मार्क्सवादी इतिहासकार प्रो. के.एन. पनिक्कर और सामाजिक कार्यकर्ता हर्ष मंदर द्वारा की गई।

अनहद को 'सांप्रदायिक सामंजस्य तथा लोकतंत्र के सशक्तिकरण' के लिए वर्ष 2011–12 में 1,66,10,753.60 रुपयों की विदेशी धनराशि प्राप्त हुई।[5] अनहद को सर्वाधिक धनराशि देने वाली विदेशी संस्था, ब्रिटेन स्थित संस्था 'क्रिश्चियन एड' है। इस संस्था ने अनहद को लगभग एक करोड़ रुपये दिए हैं। अनहद को धनराशि देने वाली अन्य संस्थाओं में पालो आल्टो कैलिफोर्निया स्थित आइ.एम.आर.सी. (इंडियन मुस्लिम रिलीफ एंड चौरिटीज) और सी.ए.एस.ए. (चर्च औक्सिलिअरी फॉर सोशल एक्शन) हैं।

आखिर क्यों कतराये जवाब देने से गणेश देवी?

साहित्य अकादेमी अवार्ड वापसी प्रकरण के संदर्भ में ए.बी.पी. न्यूज टी.वी. चैनल (18 अक्टूबर, 2015) पर चल रही एक बहस के दौरान जब गणेश देवी से भारत नीति प्रतिष्ठान के मानद निदेशक प्रो. राकेश सिन्हा ने यह प्रश्न पूछा कि उनके एन.जी.ओ. को फोर्ड फाउंडेशन से मिलने वाली धनराशि प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने के बाद कम हुई है? तब गणेश देवी को कोई उत्तर देते नहीं बना। ज्ञातव्य है कि स्वघोषित आदिवासी कार्यकर्ता गणेश देवी फोर्ड फाउंडेशन के अनुदान प्राप्तकर्ता रहे हैं। इनके नेतृत्व में स्वचालित संस्था भाषा रिसर्च एंड पब्लिकेशन सेंटर ने 8 वर्षों में 12 करोड़ रूपये प्राप्त किये हैं। भाषा को फोर्ड फाउंडेशन से लगभग 56,89043 रूपये मिले हैं।[6] गणेश देवी ने अपना साहित्य अकादेमी पुरस्कार तथा पद्म श्री सम्मान उस समय नहीं लौटाया जब आदिवासियों पर हिंसा हो रही थी और उन्हें असम, पश्चिमी घाट और मध्य भारत से निष्कासित किया जा रहा था। अब स्वतंत्र भारत में पहली बार बढ़ती असहिष्णुता की वजह से देवी ने यह पुरस्कार लौटाया है। सूत्रों के अनुसार देवी के एनजीओ को इसाई धार्मिक संस्थाओं[7] से काफी धनराशि प्राप्त हुई है।

5. http://deshgujarat.com/2013/04/16/shabnam-hashmis-anhad-is-majorly-church-funded/

6. http://deshgujarat.com/2015/10/11/ganesh-devys-ngo-bhasha-received-rs-12-crore-foreign-fund-in-8-years/

7. अमेरिका के कैथोलिक रिलीफ सर्विस और स्विट्जरलैंड के होली क्रॉस प्रोविंशियलेट

12 वामपंथी दलों के लेखक संघ एवं सांस्कृतिक संगठन

- वामपंथी इतिहासकार बिपन चन्द्रा के अनुसार,[1] **प्रगतिशील लेखक संघ** का गठन पी.सी. जोशी के कार्यकाल में हुआ था। कम्युनिस्ट पार्टी की मुख्य समिति के सदस्य रह चुके कामरेड एस.एस. बाटलीवाला ने पार्टी के साथ अपने खराब हो चुके रिश्ते के पीछे उन कामरेड्स को जिम्मेदार ठहराया जो विश्वास पात्र नहीं रहे। पार्टी के महासचिव पी.सी. जोशी[2] और भारत में ब्रिटिश सरकार के सदस्य सर रेगिनाल्ड मैक्सवेल के बीच 1942, 1943 और 1944 में हुए पत्र–व्यवहारों का उल्लेख करते हुए वे ब्रिटिश राज और पार्टी के बीच स्थापित सम्बन्ध पर सवाल खड़े करते हैं। वे जोशी द्वारा ब्रिटिश सरकार को सहयोग प्रदान करने का संदेह जताते हैं। बाटलीवाला ने इस संदेह पर जोर देते हुए कहा कि पार्टी द्वारा फासीवाद के विरोध में लिए गए विभिन्न राजनीतिक निर्णय, सरकार को सहयोग प्रदान करने वाली योजनाओं का हिस्सा थे।

- **जनवादी लेखक संघ** और **जनसंस्कृति मंच** दोनों ही कम्युनिस्ट पार्टी की शाखाएं हैं। जनवादी लेखक संघ जहाँ सीपीआईएम का हिस्सा है वहीं जनसंस्कृति मंच सीपीआईएमएल से जुड़ा है। पुरस्कार लौटने वाले कई लेखक जो किसी विचारधारा विशेष से संबंधों को नकारते हैं, इन संगठनों से जुड़े हुए हैं जैसे –मंगलेश डबराल और राजेश जोशी।

- **कबीर कला मंच** एक स्वघोषित सांस्कृतिक संगठन है जिसका गठन 2002 के गुजरात दंगों के बाद पुणे में किया गया था। महाराष्ट्र पुलिस के अनुसार इस संगठन का माओवाद–नक्सलवाद से सम्बन्ध है। संगठन की सदस्या रुपाली जाधव तथा अन्य ने पुणे में हुए मुस्लिमों पर हमलों के सन्दर्भ में हिंदुत्ववादी संगठनों पर अल्पसंख्यक–विरोधी होने के आरोप लगाये हैं।

---

1. मेनस्ट्रीम विकली, 25 दिसंबर 2007
2. पी.सी. जोशी सीपीआई के प्रथम महासचिव (1935–47 तक) थे।

13 अपने ही आईने में वामपंथ : लेखन के झरोखे से

इस देश के मार्क्सवादी लेखक सोचते रहे कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ऊपरी ढांचा है और उनका यह विश्वास भ्रम सिद्ध हुआ। कम्युनिस्ट विचारधारा का सेक्युलरिज्म थोथा नारा सिद्ध हुआ। मार्क्सवादी इस नारे को लेकर बढ़े और विचारधारात्मक युद्ध में ढेर हो गए।[1]

भारत में अपातकाल के समय मार्क्सवादियों ने जयप्रकाश नारायण का साथ नहीं दिया। आपातकाल का समर्थन करने के लिए उसके पक्ष में नामवर सिंह, भीष्म साहनी, हरिशंकर परसाईं ने हस्ताक्षर किए जबकि इस समय अज्ञेय और निर्मल वर्मा ने कहा कि हम तो वामपंथी थे– दिल्ली कल्चरल फोरम' में थे। नामवर सिंह ने निर्मल वर्मा को नई कहानी का प्रमुखतम हस्ताक्षर माना और बाद में निर्मल को एक 'सौन्दर्योपासक संत' कहकर उनकी संतई का मजाक उड़ाया। वे नामवर जो निर्मल की प्रशंसा करते थकते नहीं थे, रातोंरात उनकी आलोचना के प्रतिमान बदल गए। इस अचूक नामवरी–अवसरवादिता पर निर्मल को कहना पड़ा–नामवर सिंह का साहित्य से सरोकार जितना कम होता गया है, साहित्य की राजनीति से उतना ही अधिक। इससे उनकी राजनीति तो विपक्ष हुई ही है, साहित्य भी हताहत हुआ है। वे राजनीति के योद्धा हैं, राजनीति के कुरुक्षेत्र को साहित्य के धर्मक्षेत्र में ला रहे हैं। इससे वे साहित्य का अहित तो करते ही हैं राजनीति का भी भला नहीं करते। (निर्मल वर्मा, मेरे साक्षात्कार, पृष्ठ–88)[2]

उस नरसंहार के बाद स्वतंत्र भारत के इतिहास में सबसे बड़ा आतंकवादी और हत्यारा राजनेता फिर से चुना गया तो वह फिर निष्कंटक राज करेगा जैसा कि पिछले पांच वर्षों से करता आया है। तर्क यह बन रहा है कि अगर जनता हत्यारे को चुनती है तो उसका जनादेश सिर माथे पर रखना होगा, भले ही उस हत्यारे पर कितनों का खून क्यों न लगा हो। हिटलर भी, हम न भूलें, चुनकर ही हत्यारा तानाशाह बना था।[3]

प्रतिक्रियावादी हूं क्योंकि गुजरात के नरसंहार के बाद लेखकों–कलाकारों को विरोध के लिए और नरेन्द्र मोदी को हत्यारा मानकर उनकी सरकार को भंग करने की मांग की। उस अवसर पर उनके रूख के लिए

---

1. कृष्ण दत्त पालीवाल, राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप, 12 नवम्बर, 2011

2. वही

3. कुछ खोजते हुए, अशोक वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ–51

भाजपा और कांग्रेस की, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि की निंदा की। हिन्दुत्व और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि को इस्लाम तो इस्लाम, हिन्दू धर्म और समाज के लिए सबसे बड़ा खतरा मानता हूं।[4]

"गुजरात में इस तरह के खुले संवाद का महत्व है। वहां एक जनहंता सत्ता, लोकतांत्रिक प्रक्रिया से चुनाव जीतकर, वहां हुए जनसंहार का एक तरह से औचित्य अर्जित कर काबिज है। असहमति को गुजरात गौरव के प्रतिकूल माना जाता है। वहां एक बेहद संकीर्ण विचारधारा का आतंक सा है।" 'अनहद' जमीनी स्तर पर शबनम हाशमी के नेतृत्व में महत्वपूर्ण काम कर रहा है।[5]

अज्ञेय पर चली एक बातचीत के दौरान विश्वनाथ त्रिपाठी ने मुझे बताया कि आपातकाल में प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े कई लेखकों को साथ लेकर वे अज्ञेय के घर गए थे और उनसे आपातकाल के समर्थन में एक अपील पर हस्ताक्षर करने का आग्रह किया था। अज्ञेय ने हस्ताक्षर से साफ इनकार कर दिया। बाद में भीष्म साहनी के नेतृत्व में शिवदान सिंह चौहान, रजिया सज्जाद जहीर, त्रिपाठी जी स्वयं और कुछ लेखकों की टोली लेकर इंदिरा गांधी के घर पहुंचे।[6]

थॉट–क्वेस्ट के बहाने अज्ञेय को सी.आई.ए. का 'वरिष्ठ एजेंट' ठहराया गया और 'पूंजीवाद का दलाल' भी। वह भी निराधार और निष्प्रमाण।....गंगा प्रसाद विमल के अनुसार, "धीरे–धीरे साम्यवादियों की आलोचनाओं का शिकार होने के कारण अज्ञेय एक धारा के लिए सचमुच अज्ञेय हो चले थे।[7]

साहित्य में वे (अज्ञेय) राजनीतिक हस्तक्षेप के घोर विरोधी थे, इसीलिए कांग्रेस फॉर क्लचरल फ्रीडम' के साथ जुड़े रहे। उसमें भी एक प्रकार की राजनीति है, यह जानकर जैसे स्टीफेन स्पेंडर ने एनकाउंटर छोड़ दिया था, वात्सयायन जी ने भी उस संस्था से अपने आपको अलग कर लिया था।

भारत में भी अनेक साहित्यकार, बुद्धिजीवी, समाजसेवी, वैज्ञानिक और पत्रकार 'इंडियन कमेटी फॉर कल्चरल फ्रीडम' से जुड़े। जयप्रकाश नारायण उसके अध्यक्ष रहे। संगठन से जुड़े साहित्यकारों में मैथिलीशरण गुप्त, जैनेन्द्र कुमार, सुमित्रानन्दन पंत, हजारी प्रसाद द्विवेदी, जी. शंकर, कुरूप, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, राय कृष्णदास, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि शामिल थे।[8]

गंगा प्रसाद विमल लिखते हैं– "जो प्रवाह उन्हे (अज्ञेय को) लेकर प्रचलित थे.......वे कितने खोखले थे। आज इसका विवेचन जरूरी हो जाता है क्योंकि मार्क्सवादी अहंमन्यता एक अर्थ में अज्ञेय पर लादी अहंमन्यता से कहीं अधिक घातकी थी। क्योंकि वे एक बड़े वर्ग को अपने प्रभाव में लेकर ऐसे कृपाकांक्षियों

---

4. वही, पृष्ठ–514

5. वही

6. अपने–अपने अज्ञेय, ओम थानवी, वाणी प्रकाशन, भाग–1, पृष्ठ–XII

7. वही, पृष्ठ–X

8. वही, पृष्ठ–121

की कतार बढ़ा रही थीं, जिन्हें साहित्य नेता अपने उद्देश्य के लिए सहमति की कतार बढ़ाने हेतु करते हैं। साहित्य जगत में ऐसे नेता केवल वामपंथ में हों, यह फतवा देना आसान है। किन्तु अपने लक्ष्य के लिए साहित्यक राजनीति में यह वृत्ति हर ओर इस्तेमाल की जाती रही है। इसके शिकार हमारे दूसरे बड़े लेखक निर्मल वर्मा भी हुए जब वे चेकोस्लोवाकिया पर सोवियत दखलअन्दाजी के चलते वामपंथ से अलग हो गए।" (पृष्ठ 697)[9]

संघर्ष कला की जननी है यह संघर्ष संकल्पन और परिस्थिति में चला करता है। इसी संघर्ष के कारण प्रगति दृश्यमान है। प्रगति शब्द सापेक्ष है। आज जो प्रगति है वह कल शायद प्रगति न रहे। इसी से प्रगति को सृजन का मूल बिन्दु नहीं मान सकते।....कलाकार यदि सच्चा कलाकार है तो वह अमुक एक दिशा की लकीर ही नहीं पीटता बैठता, मगर सर्वांगीण प्रगति में विश्वास रखता है और जीता है। प्रगति जीवन के लिए लक्ष्य नहीं है, उपलक्ष्य मात्र है, क्योंकि प्रगति ही अपने आप में अंतिम नहीं है।" (हंस, मार्च, 1949)[10]

9. वही, पृष्ठ– X

10. वही, पृष्ठ–X-XI

14 संकीर्ण मानसिकता : एक नजर

उदय प्रकाश का योगी आदित्यनाथ द्वारा पुरस्कार ग्रहण करने पर वामपंथी लेखकों ने विरोधपत्र लिखकर हस्ताक्षर अभियान चलाया, जो वामपंथ की घोर संकीर्ण मानसिकता का परिचायक है।

हिन्दी साहित्य जगत में इधर कई हलचलें मची हुई हैं। एक लम्बे अरसे के बाद कवि, लेखक और विचारकगण एकजुट होकर दक्षिणपंथी खेमे की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा का मुँहतोड़ जवाब देते दिख रहे हैं। हाल ही गोरखपुर में हिन्दी कहानीकार और कवि उदय प्रकाश द्वारा बदनाम फासिस्ट योगी आदित्यनाथ के हुजूम में उपस्थित होकर 'नरेंद्रप्रताप सिंह स्मृति सम्मान' प्राप्त करने की निर्लज्ज करतूत से हिन्दी साहित्य जगत में सनसनी फैल गयी। वरिष्ठ और युवा लेखकों और बुद्धिजीवियों ने एक स्वर से इसकी निंदा की और निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव पढ़कर और हस्ताक्षरकर्ताओं की सूची देखकर ढाढस बंधता है कि अभी सब कुछ खत्म नहीं हुआ है। (ब्लॉग एडमिन द्वारा टिप्पणी)

विरोध–पत्र*

हमें इस घटना से गहरा आघात पहुँचा है कि कुछ दिन पहले हिन्दी के प्रतिष्ठित और लोकप्रिय साहित्यकार उदय प्रकाश ने गोरखपुर में पहला 'कुँवर नरेंद्र प्रताप सिंह स्मृति सम्मान' योगी आदित्यनाथ जैसे कट्टर हिन्दुत्ववादी, सामन्ती और साम्प्रदायिक सांसद के हाथों से ग्रहण किया है, जो 'उत्तर प्रदेश को गुजरात बना देना है' जैसे फासीवादी बयानों के लिए कुख्यात रहे हैं। हम अपने लेखकों से एक जिम्मेदार नैतिक आचरण की अपेक्षा रखते हैं और इस घटना के प्रति सख्त–से–सख्त शब्दों में अपनी नाखुशी और विरोध दर्ज करते हैं।

हस्ताक्षर : ज्ञानरंजन, विद्यासागर नौटियाल, विष्णु खरे, मैनेजर पाण्डेय, लीलाधर जगूड़ी, भगवत रावत, राजेन्द्र कुमार, राजेन्द्र राव, चंचल चौहान, आनंद स्वरूप वर्मा, पंकज बिष्ट, इब्बार रब्बी, नीलाभ, वीरेन डंगवाल, आलोक धन्वा, मंगलेश डबराल, त्रिनेत्र जोशी, प्रदीप सक्सेना, जवरीमल्ल पारख, वाचस्पति,

* उदय प्रकाश द्वारा योगी आदित्यनाथ के हाथों पुरस्कार ग्रहण के विरोध में

असद जैदी, मदन कश्यप, रवीन्द्र त्रिपाठी, नवीन जोशी, वीरेन्द्र यादव, देवीप्रसाद मिश्र, कात्यायनी, निर्मला गर्ग, अनीता वर्मा, बोधिसत्व, नवीन कुमार नैथानी, कृष्णबिहारी, विनोद श्रीवास्तव, प्रणय कृष्ण, राजेश सकलानी, इरफान, मुनीश शर्मा, विजय गौड़, सुन्दर चन्द ठाकुर, नीलेश रघुवंशी, आर. चेतनक्रान्ति, पंकज चतुर्वेदी, शिरीष कुमार मौर्य, अशोक कुमार पाण्डेय, रविकांत, मृत्युंजय, धीरेश सैनी, अनुराग वत्स और व्योमेश शुक्ल।

आदित्यनाथ की करतूतों को सामने लाने के लिए सुभाष गाताडे ने महत्वपूर्ण काम किया है। उदयप्रकाश द्वारा आदित्यनाथ के हाथों 'सम्मानित' होने की खबर सुनकर उन्हें भी गहरा दुःख हुआ और उन्होंने भी इस विरोध में अपना नाम शामिल कराया है।

(http://ek-ziddi-dhun.blogspot.in/2009/07/blog-post.html)

<u>परिशिष्ट–1</u>

'समकालीन समाज में बुद्धिजीवी' पुस्तिका से कुछ अंश*

श्री दत्तात्रेय होसबले
सह सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

बहुत साल पहले भारत के एक शीर्षस्थ पत्रकार श्री जनार्दन ठाकुर ने बुद्धिजीवियों के बारे में एक टिप्पणी की थी, जो मुझे आज भी याद है। वह ऐसी थी कि 'they want to have the image of the left and the comforts of the right' तो यह एक विडम्बना है भारत के बुद्धिजीवियों के double standard hypocrisy की। आज के बुद्धिजीवी सरकार की सुविधाएं पाने के लिए या फिर विदेशी आकर्षण में फंस कर अपनी बौद्धिक क्षमता को बेचने के लिए आतुर रहते हैं।

सैकड़ों वर्ष पहले की बात है। कश्मीर के तत्कालीन राजा ने यह सुना कि उसके राज्य में एक अत्यंत ख्याति प्राप्त विद्वान रहते हैं, लेकिन वे अत्यंत गरीबी में गुजर बसर करते हैं और एक छोटी सी झोपड़ी में रहते हैं। यह सुनकर राजा उस विद्वान की झोपड़ी पर बहुत सारी धन–दौलत लेकर गए और उनसे विनम्रतापूर्वक कहा कि वे इसे ग्रहण करें क्योंकि उनके गरीबी में रहने से उन्हें कष्ट होता है। तब यह सुनकर उस विद्वान व्यक्ति ने अपनी पत्नी से कहा 'हमारा यहां इस हाल में रहना राजा को कष्ट देता है इसलिए सामान बांध लो। हम कहीं और जाकर रहेंगे।' राजा यह सुनकर बड़ा आश्चर्यचकित हुआ और पूछा कि मुझसे क्या गलती हो गई? तब उस विद्वान ने कहा कि 'मैं अपने हाल पर यहां खुश हूं, आप भी अपने महल में आराम से रहिए। अन्यथा मैं यहां से कहीं और प्रस्थान कर जाऊंगा।'

जाहिर है कि हमारे देश में intellectuals की ऐसी स्वस्थ परंपरा रही है। सदियों तक हमारे देश के बुद्धिजीवी, ऋषि या संत किसी राजा के आश्रय में नहीं गए। यही वजह है कि वे लोग आज भी समाज में पूजनीय हैं। जिन्होंने राजमहल को आश्रय बना लिया समाज उनको पूछता भी नहीं, उनकी सोचता भी नहीं। जो इससे परे रहे, जो उनसे स्वतंत्र रहे, वही लोग आज भी याद किए जाते हैं।

---

*भारत नीति प्रतिष्ठान द्वारा 17 फरवरी, 2012 को 'समकालीन समाज में बुद्धिजीवी' विषय पर आयोजित परिचर्चा में मुख्य अतिथि श्री दत्तात्रेय होसबले, मुख्य वक्ता श्री आर. वेंकट नारायणन और विशिष्ट अतिथि श्री आशुतोष द्वारा दिए गए वक्तव्यों को प्रतिष्ठान ने 'समकालीन समाज में बुद्धिजीवी' नामक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित की।

बुद्धिजीवियों के बारे में अक्सर कहा जाता है कि वे समस्या तो बताते हैं पर समाधान नहीं। इस संबंध में मुझे नेपोलियन के जीवन की एक घटना याद आ रही है। एक युद्ध के दौरान जब नेपोलियन बोनापार्ट अपनी नीतियों को लागू कर रहे थे तो अक्सर वहां के पत्रकार उसकी उन नीतियों की आलोचना करते थे कि ऐसा नहीं किया या फिर ये क्यों किया वगैरह–वगैरह। इससे परेशान होकर नेपोलियन ने सभी पत्रकारों को दावत पर बुलाया और पूछा कि आप मेरी हर रणनीति पर सवाल उठाते रहते हैं। आज आप ही बताइए कि मैं अपने आगामी अभियान को किस तरह क्रियान्वित करूं। तब सारे पत्रकारों ने एक साथ हाथ खड़े कर दिए और कहा कि यह हमारा काम नहीं है। आप पहले काम करो फिर हम उसके बारे में लिखेंगे कि क्या गलत है और क्या सही। बुद्धिजीवियों के बारे में ऐसी धारणा बड़ी आम रही है।

श्री आर. वेंकट नारायणन

पूर्व सचिव, भारत सरकार एवं सचिव, आचार्य धर्म सभा

लेखकीय संदर्भ में हमारे देश में लेखकों को लेकर एक और विशिष्टता देखी जा सकती है। वह विशिष्टता यह है कि उसे आजाद होकर उन सारी प्राचीन, सामाजिक मान्यताओं की धज्जियां उड़ानी चाहिए जो हमारे देश में युगों से विद्यमान हैं और लोग सम्मान के साथ उन परंपराओं का पालन करते हैं। अगर ऐसे मुद्दों पर कोई किताब लिखी जाए जिसमें इन तमाम तरह की मान्यताओं का अपमान किया गया हो, अगर ऐसी किसी विशिष्ट किताब पर विदेशी पुरस्कार भी मिल जाए तो कहने ही क्या? वह लेखक रातोंरात सेलेब्रिटी होने के साथ ही एक सम्मानित बुद्धिजीवी होने का खिताब भी हासिल कर लेता है।

श्री आशुतोष

पूर्व प्रबंध संपादक, आई.बी.एन.7

ये जो दोगलापन है हमारे देश के बुद्धिजीवियों का। दिक्कत वहां पर है और ये क्यों है? यह इसलिए है क्योंकि हम शंकराचार्य को उद्धृत नहीं करेंगे, हम रामानुजम को उद्धृत नहीं करेंगे, हम सांख्य को उद्धृत नहीं करेंगे, हम चार्वाक को उद्धृत नहीं करेंगे। लेकिन हम वाल्टेयर को उद्धृत करेंगे, हम कांट को उद्धृत करेंगे, हम हेडेन को उद्धृत करेंगे, हम मार्क्स को उद्धृत करेंगे। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस देश में तमाम ऐसे बुद्धिजीवी होते हैं जिनको इस बुनियाद का फर्क ही नहीं पता है कि वे कांट को उद्धृत करने की बात कहते है कि कांट की थ्योरी ऑफ नॉलेज कितनी महान है और अगर आप ध्यान से देखें तो कांट का यह सिद्धांत तो दरअसल शंकराचार्य के ज्ञान के दर्शन की हूबहू नकल है।

परिशिष्ट–2

जनसत्ता, मोहल्ला लाइव, जनपथ डॉट कॉम और प्रवक्ता डॉट कॉम में प्रकाशित आलेखों की सूची

1. आवाजाही के हक में, ओम थानवी, जनसत्ता, 29 अप्रैल, 2012
2. विचार देखें, विचारधारा नहीं, तेजेन्द्र शर्मा, जनसत्ता, 6 मई, 2012
3. हर कोई गोलबंद है, चंचल चौहान, जनसत्ता, 6 मई, 2012
4. संवाद की जरूरत, सोहन सिंह भदौरिया, जनसत्ता, 11 मई, 2012
5. गोलबंदियों के बंदी, अर्चना वर्मा, जनसत्ता, 13 मई, 2012
6. वह एक चूक थी, मंगलेश डबराल, जनसत्ता, 13 मई, 2012
7. यह पलटी क्यों?, नवनीत, जनसत्ता, 13 मई, 2012
8. न प्रगतिवाद न जनवाद, निपट अवसरवाद, के. विक्रम राव, जनसत्ता, 13 मई, 2012
9. विचारधारा के बंदी, पंकज रामेन्दु, जनसत्ता, 15 मई, 2012
10. पक्ष और निष्पक्ष, मनमोहन शर्मा, जनसत्ता, 19 मई, 2012
11. यह छूआछूत उनकी ही देन है, अवनिजेश अवस्थी, जनसत्ता 20 मई, 2012
12. सम्यक दृष्टि जरूरी, डॉ. आदर्श, जनसत्ता, 21 मई, 2012
13. तार्किकता में संकीर्णता, अशोक गुप्ता, जनसत्ता, 26 मई, 2012
14. ताकि गर्द कुछ हटे, ओम थानवी, जनसत्ता, 27 मई, 2012
15. संत और सिकरी, प्रेम जनमेजय, जनसत्ता, 2 जून, 2012
16. संकट यह विकराल है कहां बैठे डबराल हैं, अविनाश, मोहल्ला लाइव, 29 अप्रैल, 2012
17. वहां राकेश सिन्हा की प्रशंसा कर रहे थे, यहां चूक बता रहे थे, अविनाश, मोहल्ला लाइव, 4 मई, 2012
18. ये स्टालिनवादी वैचारिक बहुलता के विरोधी होते हैं, राकेश सिन्हा, प्रवक्ता डॉट कॉम, 29 मई, 2012

19. हल्की फूंक से ही कांपने लगते हैं वामपंथी, विजय कुमार, प्रवक्ता डॉट कॉम, 29 मई, 2012

20. उदारता ही हमें बड़ा बनाती है, गिरीश पंकज, प्रवक्ता डॉट कॉम, 5 जून, 2012

21. साफ छुपते भी नहीं सामने आती भी नहीं, चंचल जी, जनपथ, 30 मई, 2012

22. वैचारिक बहस से परहेज क्यों, अनुरोध पासवान, प्रवक्ता डॉट कॉम, 6 जून, 2012

23. लोकतंत्र में संकीर्णता के लिए कोई जगह नहीं, अम्बा चरण वशिष्ठ, प्रवक्ता डॉट कॉम, 6 जून, 2012

24. वैचारिक अस्पृश्यता घातक, नरेश भारतीय, प्रवक्ता डॉट कॉम, 11 जून, 2012

25. हिन्दी जगत में बनाई जाएं फतवा कमेटियां, राजीव रंजन प्रसाद, प्रवक्ता डॉट कॉम, 13 जून, 2012।

Inside Back Cover

भारतीय परम्परा में असहमति को साधारणतया नकारात्मक भाव से तब तक नहीं देखा जाता है जब तक उसका मकसद लोकतंत्र की आधारशिला को कमजोर करना नहीं होता है। असहमति जब संवाद की सहचरी बनती है तभी उसका परिणाम रचनात्मक होता है। संवादविहीन विरोध का स्वर विध्वंसक साबित होता है, वह कतई फलदायी नहीं होता है। भारतीय बौद्धिक एवं ज्ञान परंपरा में विभिन्न दर्शन पद्धतियों को हम एक साथ आदर एवं श्रद्धा के भाव से स्वीकार करते हैं। चाहे वह पूर्णतः भौतिकवादी चार्वाक दर्शन हो या आचार्य शंकर का अद्वैत वेदान्त। हमारा दर्शन प्रगतिगामी इसीलिए रहा है कि इस गतिमान ब्रह्मांड में हमने विचार को कभी भी स्थिर एवं जड़ नहीं माना है, तथा सदा नवीन विचारों एवं पद्धतियों का खुलेमन से स्वागत किया है। हमारी जीवन पद्धति में विचार के प्रवाह में पूर्णविराम की कल्पना तक नहीं है। इसीलिए इसे उपनिषदों में 'नेति–नेति' द्वारा व्यक्त किया गया है, जिसका अर्थ है– यह भी नहीं, वह भी नहीं। अर्थात् खोज, अनुसंधान एवं विमर्श में कहीं भी कोई विराम नहीं होता है। यहां इस प्रश्न पर भी गौर करने की आवश्यकता है कि विचार चाहे सामाजिक हो या राजनीतिक या आध्यात्मिक यदि उसको मानने वाले निर्बाध प्रवाह की जगह पूर्णविराम में जीवन–मरण की प्रतिबद्धता के साथ विश्वास करते हों तो उन्हें भारतीय विचार शैली (Idea of India) का संवर्द्धक माने या शत्रु? इस प्रश्न पर जब तक खुलकर चर्चा नहीं होगी तब तक हम अनेक जटिलताओं को सुलझाने की जगह उसमें स्वयं उलझते जाएंगे। भारतीय संविधान की मूल प्रस्तावना इसी परंपरा का प्रतिबिम्ब है। या ऐसा कहें कि संविधान की प्रस्तावना भारतीय मानस एवं भारतीय स्वभाव को प्रतिबिम्बित करता है।

|| प्रदीपयेम जगत् सर्वम् ||

भारत नीति प्रतिष्ठान
डी-51, प्रथम तल, हौजखास, नई दिल्ली-110016
दूरभाष : +91-11-26524018 फैक्स : +91-11-46089365
ई-मेल : indiapolicy@gmail.com
वेबसाइट : www.indiapolicyfoundation.org

ISBN : 978-93-84835-03-3

9 789384 835330

मूल्य : 80 रुपये मात्र